

हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

राम कमल राय

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●
प्रथम संस्करण
१ जनवरी, १९८१

●
© राम कमल राय मूल्य : ३२-००

●
नागरी प्रेस
अलोपीवाग, इलाहाबाद
द्वारा मुद्रित

●
आवरण
शिवगोविन्द पाण्डेय

व्यवहार की सारी सतहों को चीर कर
एक सगह वह भी है
जहाँ तुम बिल्कुल अकेले ही जीते हो
काँपते और धरपराते हुए, टूटते और जुड़ते हुए
अपने से जुम्हते हुए
निपट अकेले ।
मैं तुम को उसी जमीन पर धूँता हूँ ।

प्रस्तावना

आधुनिक हिन्दी कविता में वैयक्तिकता की प्रवृत्तियों की खोज प्रारम्भ करने के पूर्व ही यह प्रश्न सामने आ प्रस्तुत होता है कि हम आधुनिक हिन्दी कविता का प्रारम्भ कहाँ से मानें। आधुनिकता के तत्त्वों का विश्लेषण तथा उनकी पहचान का प्रयास अपने आप में एक स्वतन्त्र और लम्बा विषय है। यहाँ उसमें उलझना उद्दिष्ट नहीं है। मैंने इस पुस्तक में आधुनिक हिन्दी कविता का प्रारम्भ वैयक्तिकता की दृष्टि से छायावादी कविता से ही माना है। पृष्ठ-भूमि को साफ देखने के लिए छायावाद से पहले की समूची हिन्दी काव्य-परम्परा पर एक छोटे से अध्याय में दृष्टि फेंकी गई है।

दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न वैयक्तिकता के अभिप्राय से जुड़ा हुआ है। क्या वैयक्तिकता की तलाश कवि के व्यक्तित्व की तलाश है? क्या कवि का सामान्य जीवन में दिखनेवाला व्यक्तित्व ही उसका रचनात्मक व्यक्तित्व है? क्या वैयक्तिकता का अर्थ कवि की व्यक्तिवादिता है? क्या उसके अहं की बनावट और उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप को ही इस ग्रन्थ में खोजा गया है? क्या वैयक्तिकता का अभिप्राय मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्ति के उन गुणों को रेखांकित करना है, जो उसे अन्य व्यक्तियों से अलग करते हैं? वैयक्तिकता एक रचनाकार के मृज्जन का भावात्मक पक्ष है या एक विवशता? इन सारे प्रश्नों का सीधा और सरल उत्तर देना संभव नहीं है। परन्तु इस ग्रन्थ में वैयक्तिकता को बिना कोई आकार दिये या उसकी पहचान निर्धारित किये भी कैसे देखा या परखा जाये? इस ग्रन्थ में कवि की वैयक्तिकता की तलाश कुछ सीमित और निश्चित रेखाओं के आधार पर ही की गई है। किन्तु उन रेखाओं को या उनके द्वारा बनी हुई परिधि को अनतिक्रमित किये हुए ही पूरी पुस्तक लिख ली गई है, ऐसा कहना शायद सही नहीं होगा। बीच-बीच में वैयक्तिकता की वे सारी अर्घशङ्कृतियाँ भी यत्र तत्र सुनाई पड़ती जायेंगी जो इस सन्दर्भ में अन्य कवियों या समालोचकों द्वारा प्रयोग में न आई गई हैं। फिर भी प्रयास यही किया गया है कि यथामभव उस परिधि के अन्दर ही अपनी तलाश जारी रखी जाये जिसे हमने निर्धारित किया है।

वह परिधि क्या है ? कवि का भी एक निजी जीवन होता है, जिसमें उसका प्रेम, उसके सघर्ष, उसकी पीड़ाएँ उसके सकल्प-विकल्प आदि होते हैं। पार्थिव जीवन की ओर शर्तें कवि को भी उसी प्रकार पूरी करनी होती हैं जैसे समाज के किसी अन्य व्यक्ति को। जीवन के इन अनुभवों और अनुभूतियों से वह अपने रचना-कर्म के स्तर पर कितना जुड़ा होता है और कितना उनसे मुक्त होकर सृजन-रत होता है, यह निश्चित शब्दों में बताना संभव नहीं है। ऐसे भी कवि हैं जो अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को अपने सामान्य व्यक्तित्व में काफी मुक्त कर सके हैं। ऐसा लगता है कि जब वे सृजन की भूमि पर अवस्थित होते हैं, तो अपनी चेतना को एक नये लोक में सक्रमित करके वे रचते हैं। परन्तु जितना ऐसा लगता है, उतना वे अलग होते नहीं। कहीं न कहीं उनका अपना जीवनानुभव उसमें भी छन-छनकर विशिष्ट विम्बों और प्रतीकों में ध्वनित होता रहता है। “राम की शविन पूजा”, “असाध्य वीणा” और “अंधेरे में” जैसी कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

कवि की अभिव्यक्ति का एक घरातन ऐसा भी है जहाँ वह सीधे अपने प्रेम को, अपने सघर्ष को, अपनी पीड़ा को, अपने सकल्प को अपनी रचना में व्यजित करता है। वह कोई आवरण या बहाना स्वीकार नहीं करता। कवि की आत्माभिव्यक्ति की यह वैचैनी छायावादी कविता से ही साफ दिखाई पड़ने लगती है। इस ग्रन्थ में कवि की वैयक्तिकता की एक स्पष्ट पहचान उसकी ऐसी आत्म-परक रचनाओं के माध्यम से की गई है।

वैयक्तिकता को समाजपरकता के सदर्थ में या उसके विरोध में रखकर देखने तथा उसे एक नकारात्मक मूल्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया जाता रहा है। इस कृति में इस दृष्टि को अस्वस्थ मानते हुए वैयक्तिकता और व्यक्तिवादिता में भेद किया गया है। वैयक्तिकता कवि की अपनी छवि को चमकाने की प्रक्रिया का अंग नहीं है, न वह मात्र अकेलेपन, अजनबीपन अथवा अपने धोखे में बन्द कीड़े का आत्माग्रह ही है। वह तो वह सौरभ है जो प्रत्येक पुष्प को एक दूसरे से अलग करता है। कवि अपनी अनुभूति को ही रूपायित करता है। अपने माध्यम से ही बाह्य को भी व्यजित करता है। अपनी अनुभूतिधारा के प्रति असमर्पित रहते हुए वह कवि का सच्चा कर्म कर ही नहीं सकता। इसीलिए तथाकथित जनवादी मान्यता वाले कवि भी अपनी सच्ची और मार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय उतन ही वैयक्तिक प्रतीत होते हैं, जितने अन्य व्यक्तिवादी कहे जानेवाले कवि।

प्रत्येक कवि अपने सस्कार, अपनी 'प्रतिभा और परिवेश से अपने सयोग की पृष्ठभूमि के आधार पर अपनी एक स्वतन्त्र रचना-दृष्टि विकसित करता है। इस प्रबन्ध में उस विशिष्ट रचना-दृष्टि को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसीलिए यहाँ लेखक प्रवृत्तियों के माध्यम से कवि की पहचान का प्रयत्न नहीं करन् कवि के माध्यम से उसकी विशिष्टता की पहचान करने का प्रयास करता है। यही पर यह भी साफ कर देना उचित होगा कि इस ग्रन्थ में कवियों की वैयक्तिकता की तलाश उनकी कविताओं के ही माध्यम से मुख्यतः की गई है, अपने मत या आग्रह के कठघरों में कविता या कवि को जकड़ने की दृष्टि इसमें नहीं है। इसका निश्चित परिणाम यह हुआ है कि यह अध्ययन कविताओं के माध्यम से ही आगे बढ़ता है, लेखक के अपने वक्तव्यों और तर्कों का आग्रह इसमें नहीं है। तर्क भूलतः कविताओं से ही जन्म लेते हैं।

एक बात यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस ग्रन्थ में कवि के भूल्याकन को प्रधानता नहीं दी गई है। वैयक्तिकता को रेखांकित करने के प्रयास में यदि भूल्याकन की झलक मिल जाने की स्थिति भी सुलभ हो जाती हो तो इसे लेखक की अनिवार्य विवशता माननी चाहिए। इसीलिए इसमें काव्य-सौन्दर्य, बिम्ब विधान या भाषिक संरचना पर ध्यान केन्द्रित न करके वस्तुतत्त्व और कवि के आत्मतत्त्व के अंतःसंबन्ध को ही अनेक कोणों से उजागर किया गया है। इस प्रक्रिया में कवि से कवि तक और युग से युग तक छायाएँ बदलती जाती हैं। छायावादी और छायावादोत्तर कवियों का अध्ययन सरसरी तौर पर और अत्यन्त सीमित अर्थ में अर्थात् अपनी स्वयं की अभिव्यक्ति को ही रेखांकित करते हुए किया गया है। अज्ञेय का अध्ययन विस्तार से कई कोणों से प्रस्तुत किया गया है क्योंकि नयी कविता के प्रवर्तन के रूप में उन्हें मान्यता दी गई है। नयी कविता के कवियों की वैयक्तिकता का अध्ययन आगे के विकास को समझने की दृष्टि से किया गया है। नयी कविता तक पहुँच कर कवि की रचनात्मकता के समक्ष सबसे सीधी चुनौती लोक एवं व्यक्ति की चेतना के बीच का अन्तःसम्बन्ध बन जाता है। अतः नये कवि की वैयक्तिकता को रेखांकित करते समय वह सन्दर्भ सदा सामने रहता है। जहाँ छायावादी कवि के लिए वैयक्तिकता भूलतः आत्माभिव्यक्ति थी, अज्ञेय तथा उनके समवर्तियों के लिए वह आत्मान्वेषण बन जाती है। नयी कविता में वह लोक एवं व्यक्तिचेतना के बीच के द्वन्द्व एवं सामंजस्य की अभिव्यक्ति भी बन

जाती है। चूँकि अध्ययन कवि के माध्यम से करने का निर्णय किया गया है अतः कलेवर की सीमा के कारण अनेक अन्यथा महत्वपूर्ण कवियों का अध्ययन नहीं किया जा सका और कुछ सीमित कवियों को ही प्रतिनिधि रूप में मानकर अध्ययन किया गया है। इसे ग्रन्थ के कलेवर की सीमा मानना चाहिए न कि किसी कवि विशेष की उपेक्षा। अन्त में श्रद्धेय डा० रघुवंश और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी को अपनी कृतज्ञता अर्पित करना चाहूँगा जिन्होंने पूरे ग्रन्थ को रचि लेकर सुना और यथास्थान उचित परामर्श से लाभान्वित किया। अपने अग्रज एवं मित्र प्रो० विजयदेव नारायण साही को कृतज्ञता अर्पित करना एक धृष्टता होगी क्योंकि पिछले अनेक वर्षों से लगातार मेरी समस्या का दायरा उनकी वैचारिक ऊर्जा से गरमाता रहा है।

हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय }
१ जनवरी, १९८१

राम कमल राय



छायावाद पूर्वकाल में वैयक्तिकता के स्वर	१
छायावादी काव्य में वैयक्तिकता का स्वरूप	१०
छायावादोत्तर काव्य की वैयक्तिकता	३०
वैयक्तिकता का नया परिप्रेक्ष्य अज्ञेय	४४
प्रयोगशील कविता में वैयक्तिकता के अन्य स्वर	१३३
(मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, एव भारत- भूषण अग्रवाल	
नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना	
का नया सामाजिक . १६३	
(रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह विजयदेव नारायण साही, कुंवरनारायण, सर्वेश्वर दयाल सबसेना, सदमीकांत धर्मा एव विपिनकुमार अग्रवाल)	
उपसंहार	: २४०

छायावाद-पूर्वकाल में वैयक्तिकता के स्वर

कवि अथवा साहित्यकार की रचना उसके वैयक्तिक चिन्तन, अनुभूति एवं संवेदनाओं का ही व्यक्त रूप होती है। इस दृष्टि से ऐसे साहित्य की विशेषकर काव्य की उत्पत्ति ही नहीं की जा सकती, जिसमें उसके रचनाकार का व्यक्तित्व पूर्णरूप से ओत-प्रोत न हो। कहा जा सकता है कि निर्वैयक्तिक काव्य का अस्तित्व नहीं हो सकता। आदिकवि वाल्मीकि जिस मिथुनरत क्राँचयुग्म को आहत देखकर बेचैन हो उठे थे एवं उनके कठ से काव्य की प्रथम धारा फूटी थी, वह भी उस आदिकवि के व्यक्तित्व में निहित जो मूल चेतना थी उसी पर लगे आघात का परिणाम थी। तब से लेकर युग-युग में कवि अपने मानस में उठते घाले उठेलनों को ही काव्य रूप में अभिव्यक्त करता आया है। छायावादी कवि भी यन्त जब यह कहते हैं—

“विधोगी होगा पहला कवि, जाह से उपजा होगा गान
निकल कर नयनों से धुपचाप, वही होगी कविता अनजान”

अथवा महादेवी जब कहती है—

“मैं नीर भरी झूल की बदली”

तो इन उक्तियों में एक सरल स्वीकार भावना है, जो स्पष्ट कहना चाहती है कि अपने निजी सुख और दुःख को, पीड़ा और सघर्ष को, आकांक्षा और सकल्प को, मिलन और विरह को अपनी कविता में वाणी देने में कवि को कोई सकोच नहीं है।

फिर भी हिन्दी काव्य की लम्बी परम्परा में वैयक्तिकता के अनेक स्तर और स्वरूप रहे हैं। कभी-कभी इतिहास के ऐसे काल-खण्डों में कविता-धारा बही है, जब कवि की अपनी अनुभूति, अपनी वैयक्तिक भावनाएँ गौण हो जाती रही हैं और वह किसी राजपुरुष, किसी नायक, किसी देवी व्यक्तित्व का यशोगान करना ही अपने काव्य की चरम उपलब्धि मानने को विवश हो जाना रहा है। हिन्दी काव्य के इतिहास में जिसे हम वीरगाथाकाल कहते हैं, वह ऐसा ही काल-खण्ड रहा है।

२ हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

कोई चन्दबरदाई पृथ्वीराज के शौर्य वर्णन के लिए पृथ्वीराज रासो जैसे महाकाव्य का प्रणयन तो कर सकता है, परन्तु उसके अपने जीवन में भी कोई प्रणय की आँधी वही थी अथवा अन्तर्द्वन्द्वों का आघात प्रतिघात हुआ था, इसका चित्रण उसके काव्य में भरसक नहीं मिलेगा। कवि की निजी अनुभूतियाँ उसके जीवन में ही पनपती और मुरझाती रही अथवा अधिक से अधिक कभी-कभार अपने चरित्रनायक के चरित्रांकन में चोरी-छिपे झाँक लेती रही, परन्तु कवि खुल्लम खुल्ला अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय नहीं बना पाता था। यही स्थिति लगभग संपूर्ण वीरगाथाकाल की रही है। केवल साधकों के चर्यांगन में एक वैयक्तिक स्वर सुना जा सकता है।

भक्तियुग में वैयक्तिकता का एक दूसरा ही रूप सामने आता है। देश का सांस्कृतिक जीवन विच्छिन्न हो रहा था, सारे देशी राजवाड़े मुसलमान और मुगल बादशाहों के सामने झुनुठित हो चुके थे। उत्तर भारत में स्वतन्त्रता की ज्योति कुल मिलाकर महाराणा प्रताप के व्यक्तित्व में रह गयी थी और वह भी सघर्ष के क्षेपों में घन-घन घूम रहे थे। भारतीय मनीषा पहले तो स्तब्ध एवं शिकर्त-व्य-विमूढ़ थी किन्तु समय का अन्तराल पाकर दक्षिण में फैलने वाली भक्ति की धारा इस विषण्ण जनमानस को नया सम्बल जुटाने में सहायक हुई। तुलसी, सूर और कबीर की अवतारणा हुई। जहाँ सूरदास ने मुरझाये हुए जनमानस में कृष्ण के बाल एवं विशोर जीवन के वात्सल्यपूर्ण एवं प्रणया-कुल चित्र प्रस्तुत करके एक नयी माधुर्यधारा बहाई, निराश जन-मानस के समक्ष राम जैसा सशक्त सम्बल खड़ा करके तुलसी ने उस काल के हताश मन को फिर से एक नये उत्साह से भर दिया। कबीर ने राष्ट्र-व्यापी खडियों और अन्ध विश्वासों को तोड़ने के लिए जो मूर्ति भजक रूप अपनाया उसका प्रभाव पूरे राष्ट्रीय चिन्तन पर गहराई से पड़ा।

जहाँ तुलसी, सूर और कबीर की दृष्टि समाज के सांस्कृतिक पराभव पर इतनी गहराई से गड़ी हुई थी और उसके पुनर्निर्माण के कार्य में पूरी निष्ठा, सकल एवं मनोयोग के साथ लगी हुई थी, वही यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि इन महान् कवियों एवं क्रान्तदर्शी व्यक्तित्वों ने अपनी शक्ति का सचय किस प्रकार किया, इनके इन विराट् मनसुवों का उत्स कहीं था। उस पराभव की वेला में ऐसे ऊर्जस्वन व्यक्तियों की कल्पना सहज ही नहीं की जा सकती थी। ये वे कवि हैं जिन्होंने किसी भी सांसारिक महापुरुष की प्रशस्ति में एक शब्द भी लिखना उचित नहीं समझा। वह युग नवरत्नों का था। किन्तु इन कवियों ने फूटी आँखों भी दरबारों की ओर नहीं देखा। और यही इन

कवियों की वैयक्तिकता का एक विशिष्ट रूप हमारे सामने आता है। ये तीनों कवि अपने आराध्य के सामने कितने निरावरण रूप में खड़े होते हैं, कितन-कितन प्रकारों से उन्हें रिझाते हैं, उनसे जुगुप्सते हैं एवं शक्ति अर्जित करते हैं, इसका विशद अध्ययन अपने आप में एक रोचक उपलब्धि होगी।

कबीरदास का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से असाधारण था। लोक-प्रचनन के अनुसार अवैध ब्राह्मण सन्तान के रूप में जनमे और गरीब जुलाहे-दम्पति के यहां पले कबीर ने जिस विराट् साधना का पथ अपने लिए चुना था, उसका सम्पत्क विश्लेषण बिना उन्हें अहवादी, उद्धृष्ट और उच्छृङ्खल आदि विशेषणों से विभूषित करना उनके साथ बड़ा अन्याय है। कबीर ने अपन व्यक्तित्व में उत्तर भारत के योग और दक्षिण भारत की भक्ति की धारा को तो समन्वित किया ही था जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सकेत किया है किन्तु उससे भी बढ़कर उनकी शक्ति का मूलस्रोत वैयक्तिक साधना की वह अप्रतिहत यात्रा थी जिसकी श्रेष्ठतम ऊँचाइयों पर उन्होंने अपने को पहुँचाया था। तभी वे इतने आत्म-विश्वास के साथ यह कहने का साहस जुटा सके थे कि जिस कार्यारूपी चादर को सुर, नर और मुनि ओढ़कर गन्दा करते रहे उसे उन्होंने बड़े जतन से ओढ़कर जस की तस धर दिया। इस उक्ति में रेखांकित करने की बात वह भगिमा नहीं है, जो सुर, नर और मुनि को स्थलित होते हुए दिखलाती है, बरन् वह सतत साधना है जिसे कबीर ने 'जतन' की सज्ञा दी है।

कबीर की वाणी में उनकी वैयक्तिकता की जो बेतौस अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है, वह एक ओर तो इस विराट् साधना के कारण अर्जित आत्म-विश्वास को प्रतिध्वनित करती है, दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व-निर्माण में जो क्रांतिकारी, सामाजिक, धार्मिक तरंग रहे हैं, उनको भी सकेतित करती है। मुल्ला से यह कहना कि तुम्हारा खुदा बहरा नहीं है, जो इतनी जोर-जोर से अजान देते हो और पंडित से यह कह सकना कि अगर पत्थर पूजने से ही भगवान मिलते हों तो वे पहाड़ पूजने को तैयार है, एक ऐसा स्वर है जो आत्मविश्वास के बड़े ऊँचे शिखर पर ही फूट सकता है। भक्ति-युग में कबीर की वैयक्तिकता की जो विराट् अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है उसे ठीक सन्दर्भ में ग्रहण कर पाना कई बड़े-बड़े आचार्यों के लिए भी सम्भव नहीं हो सका। कबीर का तेवर कुछ ऐसा ही था जो बड़ो-बड़ों को चुनौती देता हुआ तबड़ आता था, परन्तु जहाँ कबीर अघकचरे साधन-भ्रष्ट योगियों एवं अवधूतों को पटकारते थे, वही वे राम के समक्ष कितने निरीह बन जाते थे। अपने

को राम के कुत्ते मोतिया ने रूप में चित्रित करने वाले कबीर की विनम्रता भी देखते ही बनती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि मोतिया नाम में इतनी सरलता, विनम्रता और निरीहता निहित है, जिसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। संपूर्ण जगत् को उपदेश देने वाले, उसकी हँसी उड़ाने वाले कबीर का इतना विनम्र होकर 'तो-ता' बहने पर पास आन और 'दुर-दुर' बहने पर दूर हटने की स्वीकारोक्ति बहुता को एक पहली लग सकती है। लेकिन सच बात तो यह है कि अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत होने वाली यह निरीह विनम्रता ही कबीर में वह शक्ति और तेज भरती है, जिसका दर्शन हम उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में करते हैं।

मूरदास और तुलसीदास के विनय और भक्ति के पदा में वैयक्तिकता का एक दूसरा ही स्तर हम देखने को मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास की पूरी 'विनय-पत्रिका' उनके आत्मनिवेदनात्मक पदा से भरी पड़ी है। वैयक्तिकता का इतना विशद स्वरूप भक्ति-युग में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। राम के सामने सदा परबद्ध एक विनत तुलसीदास अपनी सम्पूर्ण कमियों और अपूर्णताओं का गद्गल लिए आत्मा स्वर में लगातार आराधना के गीत गाये जा रहे हैं। अपनी चिट्ठी याकायदे दरबार के नियमा का अनुसरण करते हुए व अपने साहब राम के पास भेजते हैं। माँ जानकी से प्रार्थना करते हैं

“कबहुँक अम्ह अवसर पाइ,

मोरिहू सुधि दयाइबी, कछु करण क्या जसाइ।”

बार-बार अपने को दीन-हीन, कुटिल, खल और कामी कहने के पीछे जो एक आत्मनितिक विनीत भाव है, उसको उचित सन्दर्भ में ही ग्रहण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि तुलसी की यह लघुता राम की विराट्ता के सामने है। अपनी सधुता की इतनी सघन अनुभूति और मुग्धर अभिव्यक्ति ही कही न कही गोस्वामी तुलसीदास में उस विराट् शक्ति को भरने का काम करती है, जो उन्हें युग-पुरुष बनाने में सफल हुई। लगता तो यह है कि तुलसीदास की विनय-पत्रिका ने ही उनके रामचरितमानसकार को जन्म दिया।

“रामजपु, रामजपु, रामजपु जीह रे”

अथवा

“भयन क्या, मुलनाम, हृदय हरि, तिर प्रनाम सेवा कर अनुसर,
मयनन निरखि कृपा समूह हरि, अग जग रूप मूप सीतायद”^१

१ विनय-पत्रिका, पद २०५।

ऐसी निष्ठायुक्त उक्तियाँ ही गोस्वामी तुलसीदास में दूसरी ओर उस विराट् मकल्प को प्रस्फुटित, विकसित और पल्लवित करती हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह पूरे युग के सकट का समाधान करने का प्रयास करते हैं। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी ने राम के समक्ष अपनी लघुता को कितने मुखर शब्दा में व्यक्त किया है, इसका दर्शन हम इस पवित्र में कर सकते हैं—

“कुपय, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल, कपट कब त्यागि है।”^१

इसके बाद तुलसीदास राम के शरणागत होकर उस निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं, जो बालक अपने माँ-बाप के अंक में करता है—

“तुलसी सुखी निसोच राज उषों बालक माय बबा के”^२

गोस्वामी जी अपने को निरावृत करके रख देने के बाद पहले तो यह कहते हैं—

“माघब सों समान जग माहीं

सब बिजि हीन, मसीम, दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं।”^३

किन्तु बाद में जैसे अधिवारपूर्वक कहते हैं—

“तुलसीदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोस कछु माँहि गोयो।”^४

इतना ही नहीं जागे बढकर गोस्वामी जी यह कहने की स्थिति में भी आते हैं—

“अब लों ममानी अब ना नसँहीं”

महात्मा मूरदास भी अपने आराध्य के समक्ष उसी विनीत भाव से प्रस्तुत होते हैं। वे भी “मो सौं कौन बुटिल खल कामी” कहने में उसी आनन्द का अनुभव करते हैं जैसा गोस्वामी जी करते हैं। वे भी गोपाल से यह कहने में हिचकते नहीं—

“शोध, दम्भ, गुमान, तुष्ट्या, पवन अति भ्रुकभोर

माँहि बितवन बैत सुत तिय, नाम मोका भोर”

अथवा

“अब मैं नाथ्यों बहुत गोपाल,

काम शोध को पहिरि घोलना, शष्ठ विषय को माल”

१ विनय-पत्रिका, पद २२४।

२ विनय-पत्रिका, पद २२५।

३ विनय-पत्रिका, पद ११४।

४ विनय-पत्रिका, पद २४५।

६ हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

गूर के पद भी वैयक्तिकता की उसी भूमि पर छड़े हैं, जिन पर गोस्वामी जी के पद। गूरदास अपने आराध्य के समक्ष कुछ छूट लेकर सद्यः भाव का प्रदर्शन भी करते हैं, जबकि गोस्वामी जी स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि—

“सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिष्य उरगारि”

भक्ति काव्य धारा में वैयक्तिकता की दृष्टि से सब में विशिष्ट व्यक्तित्व मीरा का है। मीरा का प्रेम प्रभु के प्रति इतना सघन है, जो उन्माद की सीमा को छूता है। उनके सामने न तो कबीर की भाँति ज्ञान और योग के वातायन हैं, न समाज की सड़ाँध को वेधने की आकांक्षा। न उनकी दृष्टि में प्रभु का प्रेम किसी अन्य सिद्धि का माध्यम है। उनका प्रेम तो गिरिधर नागर के लिए सर्वाङ्ग समर्पण है। “मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।” उन्हें गूरदास की तरह गोपियों का सहारा नहीं चाहिए। वे तो सीधे समर्पित हैं। “अब तो बात फैल गई, जान सब कोई”। अब उसमें दुराव छिपाव या लाग-लपेट की स्थिति नहीं है।

मीरा तो बावरी हो गई हैं अपने प्रेम में। वे तो पग में धुंधलू बाँधकर नाच रही हैं। सारा ससार उनके लिए असंगत हो गया है। पति हो या अन्य निकटतम सम्बन्धी, मीरा को उनसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे तो अपने प्रिय के प्रेम में इतनी अभिभूत हैं कि जहर का प्याला भी अमृत की भाँति पी सकती हैं।

मीरा के इस प्रेम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सरलतापूर्वक नहीं की जा सकती। भक्ति की सघनतम परिणति उनके व्यक्तित्व में है। किन्तु मीरा तो प्रेमिणी है, भक्त से कुछ इतर। वे तो अपने प्रिय का अन्यत्र सान्निध्य चाहती हैं। चाहती भी क्या हैं, वे अपने प्रियतम में पूर्णतया अपने को लीन कर चुकी हैं। बिना हाड-मांस के काल्पनिक अस्तित्व में प्रेम की इस गहरी परिणति को आज का पाठक शायद ही समझ सके। आज श्रीमती महादेवी वर्मा को सहज ही मीरा कह देने वाले पाठक और समालोचक को दोनों की मनस्थितियों के आधार-भूत अन्तर को भी समझना पड़ेगा। मीरा के गिरिधर गोपाल काल्पनिक होते हुए भी काल्पनिक नहीं थे। उनके हृदय में जो प्रेम का तत्काल बरा हुआ प्याला था, उसे समर्पण का एक साकार आलम्बन प्राप्त था, चाहे उसे हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव न कर सकें। महादेवी में तो प्रिय का अभाव ही उनकी प्रेमाभिव्यक्ति की मूल कुंजी है। मीरा की

प्रेमाभिव्यक्ति का घरातल गहरा है। वहाँ अपना व्यक्तित्व पूरी तौर पर घुल चुका है। कहीं भी उनमें अहं शेष नहीं दीखता। उनकी वैयक्तिकता उनके सर्वस्व और एकनिष्ठ समर्पण में ही है।

भक्तियुग के पश्चात् जिस रीतिकाल अथवा शृंगार युग की अवतारणा हिन्दी काव्य में होती है, वह वैयक्तिकता की दृष्टि से एक सूना काल-खण्ड कहा जा सकता है। देश का केन्द्रीय सूत्र विदेशियों के हाथ में था। छोटे-छोटे रजवाड़े अपनी सीमित परिधि में आमोद-प्रमोद और ऐश्वर्य-विलास के साथ-साथ काव्य-कला से भी अपना मनोरंजन करते थे। उनके दरबारों में फूलने-फलनेवाली हिन्दी कविता अपने नायकों और सामन्तों की शृङ्गार की भूख को परितुष्ट करने और दरबार की सीमाओं में रहते हुए तरह-तरह की कलावाजी दिखलाने का माध्यम बन गई थी। महाकवि केशवदास से लेकर १९वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी कविता का यह निर्वैयक्तिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। परन्तु इस काल खण्ड में भी अपवाद स्वरूप कुछ कवियों ने जिन्हें रीतिमुक्त कवि के नाम से अभिहित किया गया है, अपनी प्रणयानु-भूति को निस्संकोच ढंग से व्यक्त किया है। आलम, बोधा, ठाकुर आदि का नाम इस दृष्टि से लिया जा सकता है। ये कवि रीति-काल के निर्वैयक्तिक, शास्त्रीय और सामंती कविता के रेगिस्तान में नखलिस्तान जैसे दिखाई पड़ते हैं। डा० जगदीश गुप्त ने लिखा है "कविता ने प्रति रीति-कवि की दृष्टि अधिकतर निर्वैयक्तिक रही। अपवाद रूप में ही उसने अपने मन की बात व्यक्त की। अन्यथा भावनाओं का निरूपण नायक-नायिका को आलम्बन मानकर ही किया जाता रहा। घनानन्द, बोधा जैसे प्रेमी कवियों में निर्वैयक्तिकता नहीं मिलती पर उनके द्वारा रीतिकाल का प्रतिनिधित्व पूरी तरह नहीं होता।"^१

आत्मीय अनुभूतियों का परोक्ष रूप में ही दर्शन इस काल-खण्ड की कविता में किया जा सकता है। यदा-कदा मनोविनोद के लिए लिखी गई उक्तियों में विनी की वेदना या आह्लाद प्रस्फुटित हो जाय, यह एक दूसरी बात है।

“केशव बेमनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहि
घ-द्रवर्धनि भृगलोचनी, यावा कहि कहि जाहि

८ हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

सपेद वालो ने केशव को चन्द्रवदनी और मृगलोचनी नायिकाओं के सामने बृद्ध बना कर जो टीस पहुँचाई उसकी मुखर अभिव्यक्ति इस दोहे में की गई है। किन्तु अधिकांशतः रीति कविता में कवि की इयत्ता, उसकी अपनी स्वतन्त्र अनुभूति, उसके अपने जीवन के अन्तर्द्वन्द्व पृष्ठभूमि में ही रह जाते हैं। यह भी एक कटु सच्चाई है कि दरबारों में अपना पोषण प्राप्त करनेवाले कवियों के जीवन में गहरे आत्म-समर्पण की गुंजाइश भी नगण्य थी।

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की हिन्दी कविता एक नये अनुभव के घरातल पर खड़ी हुई है। देश में अंग्रेजों का शासन जम चुका था। आजादी और गुलामी का प्रश्न देश के चिन्तनशील मन को सीमित अर्थों में ही सही, उद्बलित कर रहा था। किन्तु उससे भी अधिक देखने करनेवाले प्रश्न समाज के अन्दर प्रचलित थे अन्ध विश्वास, रुढ़ियाँ तथा रीति-रिवाज थे, जो समाज की जड़ में हजारों बरसों से घुन की तरह लगे हुए थे तथा उसकी जीवनी-शक्ति को ही समाप्त प्राय कर चुके थे। सती प्रथा, जाति भेद, छुआ छूत, धार्मिक विद्वेष आदि रोग समाज को खोखला कर रहे थे। ऐसी दशा में भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण जी गुप्त तक हिन्दी कविता समाज सुधार की निर्वैयक्तिक धारा में बहती है। वह वही इतिवृत्तात्मक है कहीं सुधारवादी और कहीं धीमे स्वरो में स्वतन्त्रताकामी। उसमें वैयक्तिकता के स्वरो का उभार नहीं सीखता।

इस युग का काव्य मुख्यतः बहिर्मुखी है और बाह्य सत्य को ही प्रतिबिम्बित करता है। यों तो जैसा डा० शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है “लेकिन ऐसा नहीं होता कि कोई व्यक्ति सम्पूर्णतः बहिर्मुखी हो या सम्पूर्णतः अन्तर्मुखी हो। ये दोनों दृष्टियाँ मनुष्य की एक ही अनुभूति प्रवण चेतना की परस्पर पूरक स्थितियाँ हैं। यह दूसरी बात है कि अनुपाततः कोई व्यक्ति अधिक बहिर्मुखी और कोई अधिक अन्तर्मुखी हो, किन्तु हर व्यक्ति दोनों स्तरों पर अनुभव करता है और उसकी अनुभूतियाँ दोनों स्तरों के संवेदनो को ग्रहण करती है। इसलिए इस दृष्टि-भेद के बावजूद महान् साहित्यकारों ने जीवन-वास्तव के अन्तर्बाह्य रूप को अपनी समग्रता में प्रतिबिम्बित किया है।” परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि साहित्य के इतिहास में ऐसे युग आते हैं, जब इनमें से कोई एक प्रवृत्ति इतनी सबल हो जाती है कि दूसरी अपेक्षणीय अथवा गौण प्रतीत होती है। द्विवेदीयुगीन काव्य निश्चित रूप से बहिर्मुखी और

निर्व्यक्तिक काव्य था। वह युग ऋषि दयानन्द के आर्य समाज का युग था।
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है

“उस वातावरण को हम एक प्रकार का सामूहिक पवित्रतावादी,
नवोत्साहपूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसमें स्थूलता और कृत्रिमता की छाप
भी देखी जा सकती है।”^२

इस प्रकार एक ऐसे आरोपित अनुशासन की शृङ्खला में हिन्दी काव्यधारा
को उस काल-खण्ड में प्रवाहित होना पड़ा था, जिसमें कवि अपनी प्रणयानुभूति
और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण तो क्या करता, किसी अन्य नायक-नायिका के
माध्यम से भी वह सच्चे, भाविक और रागात्मक चित्रण प्रस्तुत करने में
असमर्थ रहा।



२. “जयगकर प्रसाद”—डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५०।

छायावादी काव्य में वैयक्तिकता का स्वरूप

हिन्दी काव्य-विकास की यात्रा में १९२० तक आते-आते एक महान् गुणात्मक परिवर्तन घटित होता है जिसके अनेक आयाम एवं अनेक स्तर हैं। भारत में उस समाज के निर्माण की प्रक्रिया तीव्र होने लगी थी, जिसे हम पूँजीवादी, प्रतिस्पर्धात्मक एवं प्रतियोगितामूलक समाज कह सकते हैं। व्यक्ति के मूल्य की प्रतिष्ठा की दिशा में भी सशक्त रूप से सभी क्षेत्रों में चरण उठने लगे थे। एक नये सांस्कृतिक जागरण का सूत्रपात होने लगा था। इस नये सांस्कृतिक उदयान का प्रभाव रचनारत कवि-मानस पर पड़ना अनिवार्य था। बंगाल में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के काव्य में एक नूतन सौन्दर्य-धारा प्रवाहित हो चली थी। हिन्दी के नवोदित कवि श्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवं श्री सुमित्रानन्दन पन्त न केवल रवीन्द्रकाव्य से बल्कि अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा से भी गहराई तक परिचित हो रहे थे। बड्सर्वथ, गैली, कीट्स, टेनिसन आदि कवियों की कवितायें हमारे नये कवियों के मानस में एक नई स्फूर्ति और ताजगी भर रही थी। प्रकृति इन कवियों के लिए अब केवल उद्दीपन-मात्र नहीं रह गयी थी, बल्कि आलवन भी बन गयी थी। द्विवेदी-मुगीन अनुशासन की शृंखलायें चरमरा गयी थी और इन छायावादी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से अपनी निजी प्रेमानुभूति को, मिलन और विरह को, पीड़ा और सघर्ष को, आकाक्षा और उद्वेलन को बेहिचक वाणी देना शुरू कर दिया था।

श्री जयशंकर प्रसाद जी इस बृहत्तरणी के अग्रणी थे, अपने प्रारम्भिक काव्य सकलन (चित्राधार, प्रेम-पथिक, काननकुसुम) में वे एक सक्रमण की स्थिति में थे, किन्तु 'झरना' की रचनाओं में स्पष्टतः एक नयी दृष्टि की शुरुआत देखी जा सकती है। " 'झरना' की प्रत्येक कविता मूलतः प्रेम की कविता है और जैसा कि बाबू गुलाब राय ने लिखा है—'उनकी कवितायें इतिवृत्तात्मक न होकर मनोवृत्तात्मक होती गयीं। बाह्य से अन्तर्जगत् अधिक सत्य भासित होने लगा"। " 'झरना' के बाद हम श्री जयशंकर प्रसाद की उस महान् वैयक्तिक

कृति का दर्शन करते हैं जो 'आँसू' के रूप में सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् को झकझोर कर रख देनी है। अपने प्रेम की इतनी स्पष्ट, मुखर और बेलाग अभिव्यक्ति हिन्दी कविता की एक अविस्मरणीय घटना कही जा सकती है।

'आँसू' को छायावादी काव्य की वायवीयता या आध्यात्मिक चेतना की विवृति घोषित करनेवालों से यह नम्र निवेदन अनुचित नहीं होगा कि इस सब कुछ के पहले 'आँसू' एक सरल और बेहिचक प्रणयानुभूति की निजी और सच्ची कहानी प्रस्तुत करनेवाली कृति है। यह प्रसाद ही थे जो यह लिख सकते थे—

“परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निरवास भस्म के भोके,
मुझ चन्द्र चाँदनी-जल से मैं उठता या मुल धोके”

इतना सशक्त और उद्दाम वैयक्तिक अनुभूति का स्वर हिन्दी पाठक को मरुस्थल में एक वेगवती स्रोतस्वनी के बल-निनाद जैसा लगा। पाठक झूम-झूम कर 'आँसू' के पदों को गुनगुनाने लगे। अपनी सघन और उत्कृष्ट सच्चाई के कारण कवि प्रसाद की प्रणयानुभूति ने एक-एक पाठक को बहुत गहराई से स्पर्श किया। यहाँ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन उद्धरणीय है

“आँसू’ कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। आँसू में कवि निःसंकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता फिर उसके अभावों में आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट् आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट् रूपों और उपमानों में प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है, वही आँसू बनकर निकली है। इन्हीं आप कवि का आत्म-स्वीकार मान सकते हैं, जिसमें बढ़कर बाव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नहीं। यह कहने से क्या सामं कि यह विमोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है जब कि प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मामिक और अधिक सत्य है। जब कवि किसी अत्यन्त आवश्यक भासावरि समस्या पर अपने अन्तरात्म की बातें कह रहा है, तब उसे उसी रूप में न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते हैं, न कविता के प्रति। आँसू में छायावाद कहाँ है? वियोग-वर्णन में? नहीं, यह तो साक्षान् मानवीय है। क्या उसकी मम्मिलन-स्मृति में? नहीं, यह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी में जब किसी ने पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इस तरह की बातें कह, तब प्रसाद जी ने उन्हें कहा। यह साहस और कवि की संवेदना स्वयं ही बाव्य

को आध्यात्मिक ऊँचाइयो पर ले गयी है। दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं।”^१

वाजपेयी जी के इस कथन से हिन्दी काव्य का कोई भी स्वस्थ पाठक पूर्णतः सहमत हुए बिना नहीं रह सकता। प्रसाद जी ने अपने मस्तिष्क में जिस घनीभूत पीड़ा को जमाये रखा था और जो दुर्दिन में अजस्र आँसू की लड़ी बनकर वह निकली वह पीड़ा निश्चित रूप में प्रसाद जी की अपनी पीड़ा थी। यह दूसरी बात है कि अपनी उत्कठा और तीव्र मार्मिकता के कारण वह हर पाठक को बहुत गहरे काटती है। इस गहन पीड़ा के पीछे निश्चय ही वह चरमोल्लास से भरा हुआ महामिलन था, जिसकी चर्चा करते समय प्रसाद जी अघाते नहीं। उनका प्रियतम सौन्दर्य की एक अनूठी प्रतिमा था और ऐसा अपरूप सौन्दर्य वाला प्रियतम अपनी ऊँचाइयों से उतर कर कवि के जीवन में पूरी तौर पर घुल-मिल गया था। फिर विरह की वह पीड़ादायिनी घड़ी आयी, जिसने मिलन की सारी पहचान ही मिटा देने की ठान ली। वहाँ तो

“विकसित सरसिज वन वैभव—

मधु ऊषा के अचल से,
उपहास करावे अपना,
जो हसी खेल ले पल से”

जैसी हँसीवाले प्रियतम का कवि के जीवन की गोधूली में अपने आँचल में धीप छिपाकर अवतरित होना और कहीं विरह के दिनों की यह मारक उपेक्षा कि कवि रो-रोकर सिसक सिसककर अपनी कृष्ण कहानी कहता जाय और प्रियतम सुमन नाचते हुए जानी को अनजानी बनाता चला जाय।

इस विरह काव्य की अन्तिम पक्तियों में कवि प्रसाद ने निर्व्यक्तिक होकर जो कुछ सुख-दुःख से ऊपर उठने की बात कही है, उसे भी अनेक आचार्यों और आलोचकों ने सही सन्दर्भों में ग्रहण करके उस पर अनावश्यक दार्शनिकता का खोल चढ़ाने की कोशिश की है। यहाँ पुनः हम आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के कथन से पूर्णतः सहमत हैं—

“आँसू सब प्रकार से एक मानवीय विरह काव्य है। तभी उसके अन्त में जो तात्त्विक निष्कर्ष है, वह हमारे इस जीवन के लिए आशाप्रद और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सम्पूर्ण काव्य को परोक्ष के प्रति विरह मानने से अन्तिम

पंक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे, न रसानुभव कर सकेंगे। जाँसू की अन्तिम पंक्तियों की मार्मिकता हम पर तभी प्रभाव डाल सकेगी, जब हम उसे मानवीय आत्मकता मानें।”^१ इसीलिए जब प्रसाद जी कहते हैं—

“छलना भी फिर भी उसमें, मेरा विश्वास बना था
उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं बना था”

तो यह उक्ति प्रसाद जी की वैयक्तिक अनुभूति की एक खरी अभिव्यक्ति प्रतीत होती है और अनुभूति की यह यात्रा ही उन्हें उस पड़ाव पर पहुँचाती है, जहाँ वे यह कह पाते हैं :

“मानव जीवन-वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का,
सुल-दुःख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का”

यह उक्ति किसी दार्शनिक चिन्तन का परिणाम नहीं है, वरन् मिलन और विरह की संकरी गलियों से गुजरने के बाद एक चौरस, विस्तृत एवं उदात्त भूमि पर कवि की चेतना के पहुँच जाने का निश्चित परिणाम है।

प्रसाद जी के कई गीत उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों से ओत-प्रोत हैं। जिस प्रसिद्ध गीत को प्रसाद जी की पलायनशील प्रवृत्ति का परिचायक घोषित करते हुए आलोचना के महारथी बतते नहीं, वह ‘ने चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे’ शीर्षक-गीत भी प्रसाद जी की एक विशिष्ट क्षण की सच्ची मन-स्थिति को प्रस्तुत करने वाला एक सच्चा चित्र है। हर व्यक्ति चाहे वह कितना ही समर्थ एवं संपर्पशील व्यक्तित्व का हो, जीवन में कभी न कभी यह अवश्य अनुभव करता है कि कुछ क्षणों के लिए कोलाहल-भरे वातावरण से दूर जाकर उस निभृत एवान्त की शरण ले, जहाँ सागर-तहरी अम्बर के कानों में अपनी गहरी प्रेम-कथा सुना रही हो। यह कुछ क्षणों का अवकाश, पलायन नहीं, कवि की एक निश्चित आवश्यकता है।

प्रसाद जी ने जहाँ अपनी प्रणयानुभूति और अपने विरह-बोझिल क्षणों का चित्रण किया है, निराला के काव्य में वैयक्तिकता का एक दूसरा ही स्वर उभरता है। निराला के काव्य-विश्वास के प्रथम चरण में तो उनका संपर्प-रत व्यक्तित्व सारे परिवेश से जुड़ना, लट्ठ-सुहान दिखलाई पड़ना है। जब वे हिन्दी में मुमनों के प्रति पत निखने हुए कहते हैं,

“मैं जीर्ण साज बहुछिन्न आज
तुम मुदल, सुरग, सुवास, सुमन,
मैं हूँ देवल पद तल आसन
तुम सहज बिराजे महाराज”

तो निराला का सघर्षों में निखरा हुआ वह रूप दिखलाई पड़ता है, जो यह कह सकने का साहस रखता है कि यद्यपि मुझे तुमसे कुछ भी ईर्ष्या नहीं है, परन्तु मैं ही वसन्त का अग्रदूत हूँ। उसी कविता में अपनी वेदना को ध्वनित करते हुए कवि का यह कथन कितनी व्यक्तिगत पीड़ा से भरा है।

“मैं पड़ा जा चुका पत्त न्यस्त” निराला ने अपने जीवन में जिन गहरे सघर्षों की राह से अपनी यात्रा की है, उसका दर्शन हमें “सरोज-स्मृति” में बहुत गहराई से मिलता है। अपनी १६ वर्षीया पुत्री की अकाश मृत्यु निराला को झकझोर कर रख देती है। सारा जीवन जो अभावों और सघर्षों में बीतता रहा है, शत-शत फनों से फुफकारता हुआ कवि के व्यक्तित्व पर छोट करता है—

“धन्ये ! मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका”

जैसी स्वीकारोक्तियाँ निराला की कचोट एवं उनकी बेपनाह बेबसी को बेलाग प्रकट करती हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैं उपार्जन में अक्षम अपनी पुत्री का उत्तम पोषण नहीं कर सका। इसमें बढ़कर अपने अबाध सघर्ष का चित्रण और क्या हो सकता है, जब कवि कहता है कि मेरी उत्कृष्ट कविताओं को पढ़कर एक दो पक्तियों में उत्तर लिखकर सपादकगण निरानन्द खौटा देते थे ? सराज का इन सघर्षपूर्ण परिस्थितियों में सालन-पालन, परम्परा-भुज्ज ढग स उसके विवाह की क्रिया सपन्न करने का चित्रण तो इस कविता में है ही, किन्तु कवि के नैतिक साहस की पराकाष्ठा तो हमें वहाँ देखने को मिलती है, जब निराला ने अपनी आत्मजा के जीवन में प्रवेश करते हुए चरणों का चित्रण किया है। निराला की निम्न पक्तियों में वैयक्तिकता का एक नया आयाम दिखलाई पड़ता है—

धीरे-धीरे फिर बढ़े चरण
बाल्य की केलियों का प्राण
कर पार कुंज तावण्य सुघड़

काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव घोषा पर,
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटो ऊया जागरण छन्द
काँपी भर निज आलोक भार
काँषा धन काँपा दिक् प्रसार

निराला में उद्दाम जीवन का कितना अगाध आत्म-विश्वास था इसका दर्शन उनकी "धारा" शीर्षक कविता की इन पक्तियों में देखा जा सकता है—

"सुना रोकने उसे कभी कुजर आया था,
बसा हुई फिर क्या उसकी, फल क्या पाया था
तिनका जैसा धारा-भारा, फिर तरंगों ॥ बैचारा
गर्व भँवाया हारा"

कुकुरमुत्ता और गुलाब की तुलना करते हुए कुकुरमुत्ता के स्वरो में निराला ने अपने वैयक्तिक एहसास को ही बेसोस शब्दों में व्यक्त किया है। बिना किसी आशय के कुकुरमुत्ता बड़ता है, न उसे सींचे जाने की आवश्यकता है और न खाद-पानी की। दूसरी ओर वह गुलाब है, जो बराबर खाद-पानी लेता रहा, कुकुरमुत्ता के शब्दों में जिस पर घड़ों पानी पड़ता रहा। निराला का जीवन गुलाबों की तुलना में कुकुरमुत्ते का जीवन है और यह स्वीकार करने में उन्हें हिचक नहीं है।

"वनवेला" शीर्षक कविता में निराला की वैयक्तिक अनुभूतियाँ कितनी भास्वर हैं, कितनी वेदना और कसक इन पक्तियों में है :—

"हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रज में गया हार"
"सोचा न कभी अपने भविष्य की रचना पर"

उम्मी ब्रह्म में सोचते हुए वे आगे कहने हैं —

"मैं भी होता यदि राजपुत्र
जें क्यों न सदा ससब होता
ये होते जितने विद्याधर मेरे अनुचर
मेरे प्रसाद के लिए बिना फिर उछलकर"

इस व्यापक स्वीकृति के पीछे निराला का संपूर्ण सपपंरस व्यक्तित्व है। निराला का जीवन अपनी चउनी जवानी के दिनों में इतने बिराट् मनसूबों

१८ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

घाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला”^१

अपनी निपट एकाकी स्थिति का इतना मुखर स्वीकार और कहाँ मिलेगा ?
किन्तु बात यही तक नहीं रुकती है कि कवि को अकेले छोड़कर मेला छूटता
जा रहा है, बल्कि जिस कवि ने १६२२ में यह गाया था—

“अभी न होया मेरा अन्त
अभी-अभी हो तो आया है
मेरे घन में मृदुल वसन्त
हरे हरे ये पात,
डावियाँ, फलियाँ, कीमलगात”

वही कवि १६४२ तक पहुँचने-पहुँचते यह लिखने को बाध्य हो जाता है :

“गहन है यह अन्यकारा
स्वार्थ के अक्षुण्ठों से
हुआ है सुष्ठुन हमारा”

निराला को लगता है कि उनके जीवन के गगन में न तो दिनकर है, न
शशधर है, न कोई तारा ही है। उसी वर्ष लिखी गयी एक दूसरी कविता में
कवि की व्यापा का यह चित्र कितना दर्दनाक है—

“स्नेह निर्झर वह गया है
रेत उधों तन रह गया है

+ + +

धब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा
श्याम तृण पर बैठने को निदयमा
बह रही है हृदय पर केवल अमा”^२

वैयक्तिकता से ओत-प्रोत निराला की इन कविताओं और गीतों से गुजरते
हुए एक वान लक्ष्य किये बिना नहीं रहा जा सकता कि निराला की व्यक्तित्वगत
अनुभूति का मूल स्वर उनकी प्रणवानुभूति का नहीं रहा है जैसा कि प्रसाद की
कविता में हम पाते हैं। निराला के वैयक्तिक चित्रों में उनके प्रेमी का रूप
यदा-कदा ही उभरा है। निराला ने तो अपनी विवाहिता पत्नी मनोहरा से ही
प्रेम किया था। और वह अनुभव भी उनका इतना अल्पकालिक अनुभव था

१ अपरा “मैं अकेला” (निराला)।

२ स्नेह निर्झर वह गया है। (अपरा)।

कि एक पुत्र और पुत्री को जन्म देकर निराला को जीवन-सघर्ष के कठिन घपेड़ों से जूझता हुआ छोड़कर उनकी पत्नी विदा हो गयी थी। इसीलिए निराला के काव्य में वैयक्तिकता का एक पृथक् आयाम भिन्न-भिन्न रूपों में प्रारम्भ से अन्त तक दिखलाई पड़ता है।

छायावादी कवियों में वैयक्तिक अनुभूति को अपने काव्य में अभिव्यक्ति देने की दृष्टि से श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व सर्वाधिक विडम्बनापूर्ण रहा है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों का पलड़ा भारी पड़ता है और प्रखर अनुभूति-जन्य काव्य की धारा प्रवाहित होती है, किन्तु अपनी परवर्ती कविताओं में वे वैयक्तिक अनुभूतियों से इस हद तक कट जाते हैं कि सारा का सारा काव्य-विकास ही निर्व्यक्तिक एवं विचारपरक हो गया है। कहाँ तो १९२५ की रची हुई उच्छ्वास की बालिका का अत्यन्त ही आत्मीय चित्र, जिसमें कवि ने स्पष्ट शब्दों में अपने हृदय को खोलकर रख दिया था—

“उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया
निज मधुर-मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया
+ + +
मैं मग्नहास-सा उसके
मृदु क्षयरों पर मँड़राया
औ उसको मुसद मुरझि से
प्रतिदिन समीप लिख आया”

और १९२२ में रचित “आँसू की बालिका” के प्रति इस निश्छल समर्पण का चित्रण—

“तुम्हारे छूने में था प्राण,
राग में थावन गंगा-स्नान,
तुम्हारी बाणी में जल्पाणि
त्रिवेणी की सहरोँ का गान”

और दूसरी ओर ‘आधुनिक कवि’ की भूमिका में व्यक्त की गयी यह दृष्टि—

“यह सच है कि व्यभिचरित मुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक

समर्प को मैंने अपनी रचनाओं में बाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विपरीत है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है”^१।

पन्त जी की ये कविताएँ जो उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों से ओत-प्रोत हैं, हृदय को सीधे स्पर्श करती हैं, यद्यपि उनकी सध्या कम है, किन्तु उनकी मार्मिकता इतनी गहरी है कि पाठक उन अनुभूतियों में खो जाता है। ‘आमू’ शीर्षक कविता में कवि की इन पंक्तियों का उल्लेख जितनी बार किया जाय उसकी तात्त्विक एवं मर्मस्पर्शिता घटती नहीं और एक विशिष्ट प्रकार की वैयक्तिक वाक्यधारा की परिभाषा ही बन जाती है—

“दियोगी होगा पहला कवि
आह से अपना होगा नाम
उमड़कर आँखों से बुद-बाद
बही होगी कविता अनजान”

इसी कविता में अपने भीगे हुए मानस का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करने वाली ये पंक्तियाँ भी दर्शनीय हैं—

“मेरा पायस धनु जीवन
मानस सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुँवले, घुले लाँचले
मेघों से मेरे भरे मयन”

‘ग्रन्थि’ में तो कवि ने अपने किशोर जीवन की प्रणयानुभूति का पुरा चिट्ठा प्रस्तुत किया ही है। पन्त जी की प्रकृति संबंधी कविताओं में भी उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों का सचरण अप्रत्यक्ष रूप से काफी हद तक हुआ है। इस दृष्टि से पन्त जी की यह स्वीकारोक्ति उल्लेखनीय है—

“प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है। कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है।”^२

‘पल्लव’ और ‘गुजन’ के बाद की कविताओं में निश्चित रूप से श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर या दूसरे शब्दों में अलग हटकर कविता लिखने का सतत प्रयास किया है। सच तो यह

१. “आधुनिक कवि”—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, भूमिका, पृ० १२।

२. “आधुनिक कवि”—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, भूमिका, पृ० ३।

है कि दर्शनशास्त्र, उपनिषदों आदि के अध्ययन ने कवि की मानसिकता का एक नया रूप प्रस्तुत कर दिया है। कवि के ही शब्दों में—

‘गुजन’ में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अन्त-मुखी बनने का प्रयत्न करती है।”

किन्तु ‘गुजन’ में ही ‘तप रे मधुर-मधुर मन’ जैसे गीतों में अपने सुख-दुःख से ऊपर उठने का भी प्रयास है। बाद में तो पन्त की काव्यधारा मार्क्सवाद के विश्लेषण और मन्थन से प्रभावित होकर ‘युगवाणी’ में समाजपरक होती दीखती है। उसके बाद गांधी और अरविन्द के प्रभाव में आगे बढ़नेवाली पन्त की काव्य-चेतना में वैयक्तिकता के स्वर एबदम खो गये हैं। इस प्रकार १९४२ में—

घोंघ दिने क्यों प्राण प्राणों से,
सुमने चिर अनजान,
प्राणों से,
गोपन रह न सकेगी अब यह मर्मरूपा,
प्राणों की न रहेगी बढती बिरह-अयया
बिबश फूटते घान, प्राणों से।

जैसा वैयक्तिक एव मर्मस्पर्शी गीत लिखनेवाला कवि बाद में विचार एव दर्शन के क्षेत्र में पूरी तौर पर लुप्त हो जाता है।

पन्त जी की इस विकास प्रक्रिया की विचित्रता को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्षों में झाँकना अनिवार्य हो जाता है। पन्त जी का आन्तरिक जगत् नारी के मासल स्पर्श से बंचित ही रह गया प्रतीत होता है। किशोर जीवन के असफल प्रेम-प्रसंगों के बाद, जिनका चित्रण उनकी प्रारंभिक कविताओं में स्पष्ट रूप से हुआ है, लगता है पन्त जी के लिए नारी एक हृदयनुपी और ऐन्द्रजालिक सौन्दर्य की प्रतिमा के रूप में दूर-दूर अपनी आकाशीय ऊँचाइयों से सुभानेवाली चीज ही बनी रहती। ‘भावी पत्नी’ का जो काल्पनिक रूप पन्त ने अपनी कविता में खींचा है वह साकार वास्तविकता के रूप में उनके जीवन के प्राण में उतर नहीं सकी। परिणाम वही हुआ जिसे हम देखने हैं। जीवन का वह अनिवार्य अभाव पन्त जी को संपूर्ण जगत् की वैचारिक-महामूर्ति में घुमाता रहा, किन्तु उनके काव्य से आन्तरिकता और आत्मीयता के तत्व बहिष्कृत होने चले गये। जीवन को योग और समाधि के अनुशासन में कसने तथा बुद्धि को मगल की खोज में दिगन्त-अप्रापी प्रसार में फँक देने के बाद भी कवि पन्त एक मनोविज्ञान की पहेली ही बनकर रह गये।

वैयक्तिकता की मौन जिस प्रकार कवि पन्त के काव्य में हुई है, विसी अन्य छायावादी कवि में नहीं।

छायावाद की अन्तिम कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य का वैयक्तिकता की दृष्टि से अध्ययन अपने आप में एक मार्मिक अनुभव है। महादेवी जी के जीवन में भी वह अभाव रहा, जिसकी ओर श्री पन्त के सदर्भ में ऊपर सकेत किया गया है, किन्तु महादेवी जी ने अपनी व्यक्तिगत पीड़ा को झुठलाने अथवा लोकमंगल के योग्यते घोषणा-पत्रों में विखरने से बचा लिया है। वे अपनी पीड़ा को लेकर अपने ही अंतर की गहराइयों में गहरे और बहुत गहरे उतर सही हैं। अपने सवध में महादेवी जी की ये पत्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

‘हस समय से मेरी प्रवृत्ति एवं विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई, जिसमें द्रष्टिगत दुःख समष्टिगत गंभीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा। कहा नहीं होगा कि इस दिशा में मेरे मन को वही विश्राम मिला जो पक्षिगावह को कई बार गिर-उठकर अपने पखों को सम्हाल लेने पर मिलना होगा।’^१

महादेवी जी ने अपनी वैयक्तिक वेदना की इतनी मुखर अभिव्यक्ति की है और फिर भी इतनी गहरी बि पढ़नेवाला भीय-भीय जाता है—

मैं अनन्त वष में तिलती ओ,
सस्मित सपनों की बातें,
उनको कभी न धो पायेंगी
अपने आँसू से रातें ॥
उड़-उड़कर ओ धूलि करेगी
मेरी का अभ मैं अभिवेक,
अमिट रहेगी उसके अक्षर
मे मेरी पीड़ा की रेस ॥

यह पीड़ा की रेखा कितनी गहरी है, कितनी अमिट है और कितनी चटख है, इसका दर्शन हम महादेवी जी के अनेक गीतों में बहुत सफाई से मिलता है। अपने मानस के सूनेपन की चर्चा करती हुई कवयित्री कहती हैं —

आँखों की नीरव मिश्रा में
आँसू के भिटते दागों में

ओहों की हँसती पोडा मे
आहो के बिलरे ट्पागों मे
कन-कन मे बिलरा हे निर्मम
मेरे मानस का सुनापन

अपनी वेदना के इस गभीर बोझ को सादे हुए महादेवी जी अनजानी राहो पर
अकेले बढ़ते जाम में थकती नहीं। उनका सकल्प इतना विराट् है कि पथ
का साग अजनबीपन, प्राणा का अकेलापन एव रास्ते के शूल उन्हें विचलित
और दिगभ्रमित नहीं कर पाते —

‘पथ होने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला,
भीर होगे चरण हारे।
अग्य हूँ जो मोटते,
दे शूल को सकल्प सारे।
दुःख-प्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाध देंगे अक ससृति से
तिमिर में स्वप्न बैला—
दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिसके निटे
स्वर-धूलि में खोई निशानी
आज जिस पर प्रलय विस्मृत
में लगाती चल रही नित
मोतियों की हाद
और चिमकारियों का
एक मेला”

सबसे अधिक महादेवी ने जीवन भर यही किया। अपने लिए अमारो का पथ चुना,
ससार के लिए मोनियों की हाद सजाई। जब वे कहती हैं कि मैं तो नीर-भरी
दुःख की चदनी हूँ मरा परिचय क्या? मेरा इतिहास क्या? कल उमड़ी थी
और आज मिट चली तो यह क्या पाठक के मन पर सीधे आघात करता है।
कहीं इतना कोई आवरण नहीं है, कहीं कोई घुमाव नहीं। महादेवी जी ने
अपने गीतों में निरन्तर वैयक्तिक दंग से अपने को चिर विरहिणी के रूप में

जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उसे देखकर प्रायः प्रश्न किया जाता है कि उनका अज्ञात प्रेमी कौन है, और फिर उनकी विरह-व्यथा को अव्यक्त और रहस्यमयी सत्ता से जोड़कर निर्व्यक्तिक बनाने का बार-बार आलोचकों द्वारा प्रयास हुआ। यह सही है कि जिस प्रिय की अभ्यर्थना महादेवी जी ने अपने गीतों में की, वह प्रियतम कोई हाड़-मांस का शरीरधारी व्यक्ति नहीं है, किन्तु यह भी उतना ही सही है कि ऐसे किसी पार्थिव अस्तित्व के अभाव की तीखी अनुभूति उनके जीवन में इतनी गहरी है कि वह अभाव ही एक काल्पनिक प्रियतम का रूप धारण कर लेता है। इस ऐन्द्रजालिक प्रक्रिया में पड़कर भी महादेवी जी की वेदना ने तो अपनी वैयक्तिकता से मुक्त हो सकी है और न ही अपने प्रभाव में हल्की। जब वह कहती हैं—

“मेरी है पहली बात, रात के भीने सितारचल
से बिग्नर मोती बने जल, स्वप्न पलकों में बिभ्र-भर
प्राप्त होते अभ्र केवल, सजनि मैं उतनी कबन हूँ,
करुण जितनी रात,

×

×

×

दुःख से तप हो मुकुल तर, उमड़ता करुण भरा उद
सजनि मैं उतनी सजल, जितनी सजल बरसात^१

इन पक्तियों में महादेवी जी का जो भीगा सजल रूप सामने आता है, वह पाठक के हृदय को करुण बनाये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार जब वे कहती हैं—

‘मेरा सजल मुल बेल सेते यह करुण मुल बेल सेते
सेतु शूलों का बना, बाँधा विरह वारीश का जल,
फूँ-सी पलकें बनाकर ध्यालियाँ धँटा हलाहल
दुःख भरा दुःख कौन लेता पूछ जो तुम
ज्वाल जल का देश बेटे?’

तो कवयित्री की यह उक्ति हवाई नहीं लगती, बल्कि लगता है कि सचमुच यदि चेहरे से अवगुष्ठन हटा लिया जाय तो आँसुओं की रेखाएँ गिनी जा सकती हैं।

इस निविड वेदना को महादेवी ने आपमय वरदान के रूप में स्वीकार किया है और अपने प्रियतम के पास चिर सजग उनीदी आँखों से पहुँचने का

सकल्य व्यक्त विधा है। जब वे कहती हैं कि 'मेरा तन मोम जैसा धुल चुका है और मन दीप जैसा जल चुका है, मैं विरह के रगीन क्षणों और अश्रु के कुछ शेष कणों को लेकर अपनी बरौनियों में बिखरे उलझे स्वप्नों के साथ अपने प्रियतम तक अपने निश्वास-दूत को भी भेज चुकी हूँ' तो यह अत्युक्ति नहीं लगती, बल्कि अपनी गहराई से पाठक को स्पर्श करती है। उन्होंने तो सहज ही यह मान लिया कि उनके लिए शूल धूलि-चन्दन बन गये। महादेवी की यह विरह-साधना छायावादी काव्य को किस सीमा तक महिमा-मण्डित करती है, इसका मूल्यांकन शायद अभी होना है।

महादेवी जी के इन गीतों में छिपी गहरी व्यथा के मर्म को समझने के लिए उनके जीवन का थोड़ा और गहराई से विश्लेषण करना अनुचित नहीं होगा। उनके जीवन में पार्थिव शरीर वाला प्रेमी नहीं है पर प्रेम का सवालब बहुत हुआ सोता है, पार्थिव आराध्य नहीं है, पर गहरी आराधना है। इसी-लिए एक बेसुधी की हृद तक पहुँची हुई बचोट है, तिलमिलाहट है, जिसे वे हर सभव प्रयास से अमृतमयी बनाती हैं। अपनी आराधना में इतनी एकनिष्ठ हो जाती हैं कि पाठक-दर्शक भी शायद उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, रह जाती है केवल उनकी पारदर्शी, खोई हुई, सुदूर लक्ष्य में भटकती दृष्टि। उनका विरह प्रेम की मोसल मुखानुभूति की स्मृति नहीं है। प्रसाद की भाँति 'उन्हे परिरम्भ कुम्भ की मदिरा' एवं 'निश्वास मलय के झोके' यादों की बारात बनकर परेशान नहीं करते। महादेवी जी का जीवन तो विरह ही विरह है। वह विरह जिम्मे मिलन जाना ही नहीं। ऐसा विरह जो या तो मतवाला बनाता है या महान्तम साधक। महादेवी जी भीरा की भाँति मतवाली नहीं हो जाती, साधिका ही बन पाती हैं, मन्दिर का वह दीप बन जाती हैं जो 'नीरव जलते हुए माण्ड्य-दूत' बनकर अन्ततः प्रभानो तक पहुँचता है। महादेवी जी की आराधना का यह स्वर भी पूरी वैयक्तिक अनुभूतियों से शराबोर है। उनके प्रियतम की तलाश में उनकी पूरी कविता को एक अव्यक्त सत्ता के प्रति निवेदन बहुर उमकी वैयक्तिकता को घटाने का प्रयास हुआ है किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे युक्तिसंगत और सच्चा विश्लेषण श्री मुमित्रानन्दन पन्त का है जो उन्होंने 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' नामक ग्रन्थ में किया है। उनकी दृष्टि में महादेवी की विरह-व्यथा शुद्ध मानवीय है और सच्ची है। उसे निर्वैयक्तिक या अतिमानवीय बनाने के सारे तर्क झूठे हैं। नारी होने के नाते जितना भारतीय सन्दर्भ में महादेवी जी ने अपनी प्रणय-कामता को परीक्षा

निवेदन बनाने का प्रयास किया है उसे सहज एवं स्वाभाविक सकोच मानते हुए पन्त जी ने महादेवी जी की भावनाओं का सही मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

महादेवी जी की वैयक्तिक प्रणयानुभूति जो अपने आलम्बन के अभाव में निरंतर मिसकती रहती है कहीं तो खुलकर आँसू बहाती है और कहीं आराधना का अटूट स्वर बनने का विराट् स्वरूप बनती नजर आती है। इन दोनों स्वरों का ताना-बाना उनके गीतों में इतनी खूबी के साथ बुना हुआ है कि उनको पृथक् करके देखने में एक जीवन का महान् सत्य ही टूटता-सा प्रतीत होता है। ये दोनों स्वर मिलकर जिस 'रासायनिक परिपाक' पर पहुँचे हुए हैं उनसे उन्हें पृथक्-पृथक् करके ढूँढना और उनका जायजा लेना एक अधूरी बात होगी। देखिये न—

अपनी कण्ठ में बिखरी
निधियों में कभी पहचानी,
मेरा सघु अपनापन है
सघुता की अपक कहानी।
मैं दिन की ढूँढ़ रही हूँ
जुगनू की उम्रियाली में,
मन माँग रहा है मेरा
सिकता होकर प्याली में।^१
“कीर का प्रिय आज रिजर खोल दो।
हो उठती हैं लघु छू कर,
तीलियाँ भी बेगु स्वर,
बन्दिनी स्पन्दित ध्याता से,
सिहरता जब मोन पिजर !
आज छड़ता मे इसी को बोल दो !
जग पड़ा छू अधु धारा,
हृत् परों का विभव सारा,
अब अलस बन्दी युगों का—
से उठेगा सिथिल कारा।

+ + +

नाप भीलाकाश से जो,
 धेड़ियों का माप यह बन,
 एक किरण अनन्त दिन की मोल हो ।”

एक किरण की आकाशी कवयित्री का यह चिर-प्रतीक्षित, चिर पिपासु, वैचैन स्वर किस पाठक को अपनी वैयक्तिक पीड़ा से अभिभूत नहीं कर लेगा ?

महादेवी का प्रेम न तो कबीर का मस्ताना इश्क है, जिसमें मस्ती और धर फूँकनेवाली लापरवाही है, न वह मीरा का नशे में डूबा चिर प्रणय-निवेदन ही है । कबीर का प्रेम शुद्ध रूप से मौला के प्रति एक बेवाक इश्क की मुखर अभिव्यक्ति है । उसमें कसक का कोई प्रश्न ही नहीं है । दूसरी ओर मीरा की भक्ति और प्रीति भी उनके भीतर लघु का अपनापन, लघुता की अकथ कहानी है । जुगनू की उजियाली में दिन की तलाश है । हीरे की प्याली में सिकता की माँग है । इतनी कसक जो शब्दों की झिल्ली को फाड़कर वह रही है । दूसरी ओर आराधना का अटूट स्वर—

“शलभ मैं शायमय घर हूँ । तिसी का दीप निपटुर हूँ ।

राज है जलती शिला

चिनगारियाँ भृंगार-माला

ज्वाल अक्षय कोद-सी

भंगार मेरी रंगमाला;

नाश में जीवित किसी की साथ सुन्दर हूँ ।

+ + +

फिर कहाँ पास तुझे मैं मृत्यु-पन्धिर हूँ ।

+ + +

एक ज्वाला के बिना मैं रास का घर हूँ ।

+ + +

रात के उर में दिवस को चाह का शर हूँ ।

+ + +

मिसन का मत नाम से मैं विरह में विरह हूँ ।”

१. आधुनिक कवि—महादेवी वर्मा, गीत ६३ ।

२. आधुनिक कवि,—महादेवी वर्मा, गीत ६० ।

छायावादोत्तर काव्य की वैयक्तिकता

प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद जिन कवियों की कविता हिन्दी काव्य के आवाश में भूँजती है, उनमें दिनकर, बच्चन, नवीन, नरेन्द्र शर्मा एवं अचल के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। यह युग छायावाद के सरलीकरण का युग रहा है—भाषा, भाव एवं अभिव्यक्ति सभी दृष्टियों से। अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को और भी अधिक सरल और सीधे ढंग से कहने में कवि को रचमात्र भी हिचक नहीं है। इन पाँचों में भी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को विशेषकर प्रणयानुभूतियों को सबसे अधिक बेबाक ढंग से व्यक्त करने में बच्चन की कविता आगे रही है। बच्चन ने अपने हृदय को अपनी कविता में खोल कर रखा है। आत्म-परिचय, शीर्षक कविता में कवि की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से दृष्टव्य हैं—

“मैं जीवन का उन्माद लिए फिरता हूँ,
उन्मादों में अबसाद लिए फिरता हूँ,
जो मुझको बाहर हँसा, बताती भीतर,
मैं शाम किसी को याद लिए फिरता हूँ।

× × ×

मैं रोया इसको तुम कहते हो माना
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छन्द बनाना
क्यों कवि कहकर संसार भुके अपनाये
मे दुनियाँ का हूँ एक नया बोखाना”

बच्चन जी अपने जीवन में प्रणय की सबसे अनुभूतियों से गुजरे हैं। कभी उनका हृदय अपनी प्रथम परिणीता पत्नी के दिवंगता होने पर आँसू बहाता है, कभी नये प्रणय की रागिनी पर नया सरसम छेड़ता है। अपनी जीवनी लिखते समय बच्चन जी ने बड़े रोचक ढंग से अपने दूसरे प्रणय-प्रसंग की चर्चा की है। उनकी दूसरी प्रेयसी और बाद में पत्नी थीमती तेजी बच्चन से अपनी प्रथम भेंट का उन्होंने बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। बच्चन जी अपनी कविता सुना रहे थे। उपस्थिति केवल एकाध उनके कुछ मुहूर्तों की थी। तेजी उस मुहूर्त मण्डली में बच्चन की अपरिचितता थी। बच्चन के मुख

से उनकी प्रसिद्ध कविता 'क्या कहें सवेदना लेकर तुम्हारी' फूट रही थी।
ज्यों ही उनके मुख से यह पक्ति निकली—

“उस नयन है वह सकी वच

इस नयन की अभ्यधारा ?”

सचमुच तेजी की आँखों से अजस्र आँगुओं की धारा फूट पड़ी और दूसरे ही क्षण तेजी, वचन की बाँहों में थी। सुहृद् मण्डली नेपथ्य में चली गयी। कविता और जीवन का इतना गहरा संयोग और कहाँ मिल सकता है ? वचन की पूरी काव्य यात्रा, 'एकान्त-सगीत', 'निशा-निमन्त्रण', 'आकुल-अन्तर', 'मिलनयामिनी', उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों से भरी पड़ी है। अपनी कविताओं और उनमें ध्वनित व्यक्तित्वगत अनुभूतियों पर वचन की यह पक्ति स्वयं सबसे खुली टिप्पणी है—

“मैं छिगना जानता, तो जब मुझे साधू समझता,

शत्रु मेरा बन गया है, मिथकपट व्यवहार मेरा”

वचन की कविताओं में विशेषकर 'एकान्त सगीत', 'आकुल अन्तर' आदि की कविताओं में एक गहरी कचोट का अनुभव होता है। एक हताश प्रेमी की गुनगुनाहट उस दौर की कविताओं में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वचन की ये पक्तियाँ उनके निराश हृदय का एक मार्मिक परिचय देती हैं—

“मैं जोड़ सका यह निधि समस्त

लण्डित आशायें, स्वप्न, भग्न,

असफल प्रयोग, असफल प्रयत्न

कुछ दूटे फूटे शब्दों में, अपने दूटे दिल का कदम”^२

वचन का हृदय उन दिनों निराशा एवं हताशा की एक अजीब शरणस्थली बन गया था। अपने हृदय रूपी पक्षी ने प्रति कवि की यह उक्ति कितनी कष्ट है—

“जा कहाँ रहा है विहग भाग ?

कोमल भीड़ों का गुल न मिला,

स्नेहालु दृश्यों का रस न मिला,

मूँह भर बोले वह गुल न मिला,

क्या इतोलिये बन से विराग ?”

३४ हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

मैं कह पाया हूँ यह तो सिर्फ भूमिका मात्र थी, अभी तो सारी बातें शेष हैं और इसके बाद कवि प्रकृति की ओर दिखलाते हुए कहता है,—

“सिथिल पड़ो नम को योहों में, है रजनी की बाया
चाँद चाँदनी की मदिरा में है डूबा भरमाया
अलि अब तक भूले भूले से, रस-भीनी गलिघों में,
प्रिय भीन लड़े जलजाल, अभी मत जाओ”

प्रकृति के इतने शृंगारमय चित्र—जहाँ आलिंगन ही आलिंगन हो, मदिरा ही मदिरा हो एवं मधु ही मधु हो—बिना प्रेमी-युवल को उन्मत्त नहीं बना देते ? किन्तु इसी के साथ आनेवाले सबेरे का बिछोह मन की परिधि पर छाया हुआ है। जब कवि कहता है,

‘तारों के रूपने तक अपने मन को बुढ़ कर लूँगा,
प्रिय दूर बहुत है प्रात अभी मत जाओ”

तो पाठक उस विदाई के आनेवाले क्षण की अनुभूति से भीग उठता है। बच्चन ने अपनी प्रणयाकुल भावनाओं को इतनी बेबाकी से व्यक्त किया है कि पढ़नेवाला कहीं-कहीं अवाक रह जाता है। एक चित्र देखिये—

‘इसीलिए बधा देने तुमसे
सासों के सम्बन्ध बनाय,
मैं रह-रहकर करवट लूँ, तू
भुल पर डाल केरा सो जाये,
रैन अंधेरी, जग जा मोरी
माफ आज की हो बरजोरी
सो न सकूँगा और न सुझाओ, सोने दूँगा,
हे मन बीने ?”

अपनी प्रियतमा को मन की बीणा छायावादी कवि भी कह सकता था, लेकिन इतनी बेबाकी कि अपनी वैयक्तिक प्रणयाकुलता को इतना खोलकर रख दिया जाय कि अंधेरी रैन की सारी बरजोरी माफ हो जाय, यह बच्चन के ही बूते की बात थी।

इन मासल चित्रों के अतिरिक्त मन को भिगो देनेवाले, भावविभोर कर देनेवाले गीत भी बच्चन की काव्यशाला में कम नहीं हैं—

“आज मतार नहीं तुम छेड़ो,
मेरे नयन भरे आन हैं।
तुमने आह भरी कि मुझे था,

झम्मा के झोंकों ने घेरा
तुम मुसकाये थे कि जुनहार्द
मे था डूब गया मन मेरा
तुम जब मौन हुए थे मेने
सूनेपन का दिल देला था ।”

और उससे भी अधिक करुण अनुभूति का दूसरा चित्र इन पक्तियों में देखा जा सकता है—

“पूर्णिमा का चाँद अम्बर पर चढ़ा है,
तारकावलि लो गई है,
चाँदनी में वह सफेदी है कि जैसे
धूप ठंडी हो गई है,
मेघ निद्रा के मिलन की बोधियों में
बाहिए कुछ-कुछ अँघेरा,
इस रूपहली चाँदनी में लो नहीं सजते पल्लव और हनु भी ।”

कवि की आकुल मन स्थिति से प्रकृति का इतना जीवित सम्बन्ध छायावादी प्रकृति का नहीं दिखाई पड़ता । प्रकृति के मानवीकरण की प्रक्रिया की लाख कोशिशों के बाद भी यह मानव सापेक्षता की चरम स्थिति छायावादी काव्य में नहीं पहुँच पाई है ।

इससे थोड़ा भिन्न वैयक्तिक अनुभूति और प्रकृति के बीच के अन्त सम्बन्ध का एक दूसरा धरातल इस गीत में प्रस्तुत है—

“न तुम लो रही हो, न मैं लो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में डल रही है ।
+ + +
जिये पार मैंने सहज ही भस्म्यल,
सहज ही दिये घोर मैदान जंगल
मगर माप में चार धोते अमुक्तिल ।
यही एक मजिल मुझे लल रही है ।”

बर्चन की इन तरल वैयक्तिक अनुभूतियों को इतनी सफाई और सकोचहीन ढंग से अपनी कविता में ढालने की जो प्रवृत्ति छायावादोत्तर काल में दिखाई

पड़ी वह गीत-कविता की राह से आज तक बहनी जा रही है। नीरज, नेपाली, शम्भूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर, दुष्यन्त कुमार, बलवीर सिंह 'रग' आदि के वैयक्तिक गीत इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं—

‘तन के सौ सुख सौ सुविधा मे,
मेरा मन बनवास दिया सा।
राजमहल का पाहुन जैसे,
तृण-कुटिया वह भूल न पाये,
जिममे उसने हँस बचपन के
नैसर्गिक निशि दिवस बिताये
मैं घर की से याद बरवती
भट्ठीसे साजों मे बन्दी,
तन के सौ सुख सौ सुविधा मे
मेरा मन बनवास दिया सा’

ये पंक्तियाँ बरवस महादेवी जी की याद दिलाती हैं। वहाँ भी तो तन के सौ सुख, सौ सुविधा मे मन को बनवास ही दिया गया है।

यो तो बचपन की काव्यधारा मे मूल वैयक्तिक स्वर प्रणयानुभूति का ही है, किन्तु ऐसे भी गीत उन्होंने रचे हैं, जिसमे उनके जीवन के अन्य सपनों की झाकी भी मिलती है—

“जीवन मेरा बीत गया सब जीने की तैयारी मे”

ऐसी ही पंक्ति है। परन्तु उस पार्थिव सपन को कवि ने अपने काव्य का वियग प्राप्त नहीं ही बनाया। एकाघ भीत ही उस ओर संकेत करते हैं—

“मैं जीवन मे कुछ कर न सका, जग मे अधियारा छाया था
मैं उवाला लेकर आया था, मैंने जलकर ही आधु बिता,
पर जगती का तम हर न सका, अपनी ही आग बुझा लेता,
तो जी को वीथ बँटा देता, मधु का सागर सहता था
सधु प्यारता भी मैं भर न सका, मैं जीवन मे कुछ कर न सका
बीता अथमर क्या आवेगा मन जीवन भर पछतायेगा,
मरना तो होगा ही मुझको, जब मरना था तो मर न सका”

कवि की वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों से शराबोर अनेक गीत बरवस पाठक के हृदय एवं चेतना पर छा जाते हैं—

“इस रुपहली चाँदनी मे तो नहीं सकते पखेरु और हम भी।”

छायावादोत्तर कवियों में सबसे सशक्त हस्ताक्षर श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' हैं। परन्तु उनके काव्य का वैयक्तिकता की दृष्टि से अध्ययन उतना सरल नहीं है। दिनकर गरीबी में पले, सघर्षों के थपेड़ों में बढ़ते हुए जीवन में तने हुए भी और समझौता करते हुए भी, अंग्रेजों की नौकरी करते हुए भी और पराधीन भारत की शिराओं में आग की धारा बहात हुए भी एक ऐसे दुर्द्वय व्यक्तित्व के कवि हैं कि उनके काव्य में उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों का दर्शन इतनी तरल और सरल अभिव्यक्ति के रूप में नहीं किया जा सकता जैसा कि वच्चन के काव्य में सम्भव हो सका है। दिनकर का व्यक्तित्व ओज और तेज का व्यक्तित्व है। उनकी भाषा झकझोर कर मुद्दों को भी छड़ाकर देने वाली भाषा है। उनके चिन्तन और अहसासों में आर्य युग से बहती चली आई वह मत्स्यपूत पीयूष-धारा है, जो पाठक को पूरी भारतीय चेतना के उदात्त तत्त्वों से परिपूर्ण कर देती है। वे राष्ट्र-जागरण और नव सांस्कृतिक उत्थान के कवि हैं तथा इस दायित्व के बोध से इतने सजग हैं कि अपनी कविता में अपने निजी जीवन के कटु-मधु अनुभवों को जल्दी आने देना नहीं चाहते। 'रेणुका' और 'हुंकार' में उनके अन्दर उबलती हुई उसी आग को देखा जा सकता है। 'सामधेनी' भी उनकी वैसी ही प्रेरक रचना है। इसी प्रकार आगे चलकर 'कुरुक्षेत्र' में उनके उस चिन्तन प्रधान हृदय को देखा जा सकता है, जिसमें वैयक्तिक अनुभूतियों को परोक्ष रूप से ही जगह मिल सकी है। छठवें सर्ग की कोमल प्रेरणा कवि की वैयक्तिक अनुभूति में ही है, जहाँ फोलाहल से दूर हटकर मनुष्य को कुछ एकान्त क्षणों को प्राप्त करने की बात कही गई है।

इस प्रकार 'दिनकर' की वैयक्तिकता के दो स्वर उनके काव्य में प्रमुख रूप से उभरने दिखाई देते हैं। पहला, उनका व्यक्तिवादी ओजस्वी स्वर जो आत्मविश्वास से ओत-प्रोत है और अपने को इतना युगान्तरकारी मानता है कि इतर सारी शक्तियाँ उससे धागे धूमिल पड़ जाती हैं। पुरुरवा के शब्दों में दिनकर का यह आत्मविश्वास भरा स्वर सुना जा सकता है।

"उर्ध्वशी अपने समय का सुगंध हूँ मैं"

अथवा स्वयं अपने ही सन्दर्भ में की गई कवि की गर्जना —

"मुनूँ क्या सिन्धु में गर्जन तुम्हारा ?

रश्मि ही मृगयर्षी का हुंकार हूँ मैं।"

यह हुंकार दिनकर की वैयक्तिकता का वह उद्दाम व्यक्तिवादी स्वर है, जो उनकी प्रारंभिक रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है, विशेषकर 'हुंकार' में। दिनकर

३८ : हिन्दी बहिता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

का 'हुकार' उनके उदय का स्फोट है। 'दिनकर' उपनाम का ध्येय ही उनके प्रज्वलित व्यक्तित्व का द्योतक है। प्रेम की अभिव्यक्ति सीधे उनके काव्य में नहीं हुई है। परन्तु 'उर्वशी' महाकाव्य का पूरा परिवृत्त उन कोमल भावनाओं की प्रतिच्छवि है, जो निम्न पक्तियों में झाँकती है

जब भी तन को परिधि पारकर मन के उच्च निलय में,
नर-नारी मिलते समाधि सुल के निश्चित शिलर पर
तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।^{११}

अथवा

"वह विद्युद्भय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे स्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में झोपक बल उठते हैं ?
वह आसिग्न अन्धकार, जिसने बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं ?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निलल तन-मन की खुल जाती हैं ?"^{१२}

अथवा

यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूँज रहा है
स्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं में, अकूल अस्तर में ?
ये उर्मियाँ । अशब्द नाद । उफ री, बेबसी गिरा की ।
बोगे कोई शब्द ? कहूँ क्या कहकर इस महिमा को ?^{१३}

अथवा

उफ री, यह माधुरी । और ये अघर विरञ्च फूलों से
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जाने, भर जाते किन पीयूष कणों से ।
और सिमटते ही कठोर बाँहों के आसिग्न मे,
घटुल एक पर एक उष्ण उर्मियाँ तुम्हारे तन की
मुझमें कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं ।^{१४}

१. उर्वशी

२. उर्वशी

३. उर्वशी

४. उर्वशी

यह 'विद्युन्मय स्पर्श' यह 'रोमो मे दीपक बल उठना', "चुम्बन से निखिल तन-मन की जटता की ग्रन्थियों का खुल जाना", "ये उर्मियाँ", ये "अशब्द-नाद", "यह गिरा की बेवसी", "रोम यूरो का पीयूषकणो से भर जाना" कोई किताबी अनुभव या सुनी सुनाई बातें नहीं हैं। ये तो अनुभूति व जलते हुए अगारे हैं जिनका आस्वाद और भोग भोक्ता ही अनुभवकर सकता है। फिर आसानी से डा० सावित्री सिन्हा से सहमत होना सरल नहीं है। "अगर घूम" नामक कविता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है

'प्रेमी और प्रेमिका ने बीच की वह स्थिति जहाँ स्थूल और साकार मिट जाता है, भावनाओं का पागलपन ही शेष रह जाता है, इस कविता में वर्णित है, परन्तु यहाँ भी उनके शृंगार में पुष्प, अक्षत, अर्चना दीप, धूम-जाल, सुमन-हार ही हैं, आकुल आकाशों और उष्ण अनुभूतियाँ नहीं। यह प्रेम शृंगार की अपेक्षा भक्ति के अधिक निष्ठ है। यह पूजा-अर्चना का विधान सजीव अनुभूतियों के स्पर्श के कारण उपहासास्पद होने से बच जाता है। प्रेमी द्वारा सम-पित हृदय की मधुर धार को, प्रेमिका मन में, पुतली में सजाकर रखती है। प्रेमी की अर्चना न स्वीकार करने का उसके मन में दुःख और पश्चात्ताप है—मन्त्र में प्रवृत्तियों की विजय होनी है, परन्तु जिन प्रवृत्तियों की स्थूलता और उष्णता की अभिव्यक्ति के लिए साहस, के अभाव में छायावादी कवियों ने सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का सहारा लिया था, दिनकर ने पूजा, उपासना और आराधना का सहारा लिया है, जिससे चित्रण में अस्वाभाविकता आ गई है। पार्थिव अनुभूतियों का यह अपार्थिव रूप अविवशनीय और अस्वाभाविक हो उठा है।" डा० सिन्हा के इस विचार पर विचार करना पड़ता है और अधिक गहराई में जाकर दिनकर के व्यक्तित्व में शान्ति पर कुछ बातें और स्पष्ट होनी हैं। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है दिनकर में परस्पर विरोधी भावनाएँ और तर्क पूरी शक्ति से टकराते हैं। दिनकर का व्यक्तित्व एक आलो-हित ज्वार भय सागर है। वे समाधान के भवि नहीं हैं। चाहे भीष्म और युधिष्ठिर के तर्कों का टकराव देखिये या पुरुरवा और उर्वशी के, सर्वत्र एक उष्ण टकराव दिखलाई पड़ेगा। कारण गहरा है। दिनकर में जीवन में समझोता किया है, किन्तु कविता में नहीं। उनके जीवन का समझोता भी पराजय या आत्म-समर्पणवाला समझोता नहीं बरन् बर्मे की कुशलता ही अधिक है। परिणामतः उनका पूरा व्यक्तित्व द्वन्द्वात्मक हो गया है। जीवा में समझोता-

४० हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

वादी और काव्य में क्रान्तिकारी कोई नहीं हो सकता। हाँ, जीवन के समशीतो की काई के नीचे यदि क्रान्तिवारिता की धारा भी बहती रहे, जिसे ऊपर-ऊपर देखना सहज ही सम्भव न हो तभी उस काव्य का मर्जन हो सकता है जिसे दिनकर ने रचा है।

दिनकर की वैयक्तिक अनुभूतियाँ की उनके काव्य में प्रामाणिकता ढूँढ़ने पर उनके व्यक्तित्व के इस मूल द्विधात्मक पक्ष को ध्यान में रखना पड़ेगा। दिनकर की कविता में जो उद्वेलन है शब्दा में जो अनन्तार है स्वरा में जो प्रेरणा की धारा बहती है उसको समझने के लिए काई के नीचे नीचे बहनेवाली उस जीवनधारा को जानना पहचानना और समझना पड़ेगा जिसका ऊपर संकेत किया गया है। इसीलिए दिनकर का काव्य उस अर्थ में वैयक्तिक अनुभूतियों से शराबोर नहीं है जिस अर्थ में वचन का। दिनकर का मनसूबा तो राष्ट्र की आत्मा में गया स्वर फूँकने का है। उन्हें अपनी बेदना की धारा बहाने का न अवकाश है न उनकी उधर प्रवृत्ति ही है। फिर भी दिनकर ने उर्वशी में प्रेमा मुमूर्ति के जो सशक्त चित्र और अन्तर्द्वन्द्वों का जो कचोट-भरा वर्णन किया है उनमें उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों की खरी अभिव्यक्ति है।

यूँ दिनकर पौरुष के कवि हैं। उन्हें देखते ही पौरुष का भाव जग उठता था। परन्तु गहराई में जो प्रेम का सोता है उसने भी कवि के व्यक्तित्व को सदा सरस बनाये रखा है। समय समय पर उनके काव्य में वह सोता पूरे वेग से फूटता है

‘ये प्रवाल से अधर बीस, जिनका चुम्बन लेते ही
धुल जाती है कान्ति प्राण के पाटल लिल पड़ते हैं’^१

अथवा

‘देती मुक्त उभेल अधर-मधु ताप तन अधरों में
मुख से देती छोड़ कनक कलशों को ऊष्ण करों में’^२

अथवा

‘‘तब फिर आलोडन निगूढ़ दो प्राणों की ध्वनियों का,
शोणित का वह ज्वलन, धस्तियों में वह चिनपारी-सी
मानो तन के अन्धकार की परतें टूट रही हो।’’^३

१ उर्वशी, पृ० ५६।

२ उर्वशी, पृ० १५।

३ उर्वशी, पृ० १२७।

जैसी अनुभूति प्रवण पक्तियाँ इस बात का पूरा प्रमाण हैं कि दिनकर के काव्य में बहिर्मुखता का अंश जितना चाहे बड़ा हो, किन्तु एक सशक्त वैयक्तिक स्वर भी प्रारम्भ से अन्त तक बहता रहा है। पुरुरवा के तर्क वस्तुतः कवि दिनकर के ही तर्क हैं। पुरुरवा ने प्रेम के कई स्तरों का अनुभव किया है। पहले तो वह रोमांटिक प्रेम है जिससे तरंगित होकर वह उर्वशी को एक विचित्र मुग्ध भाव से देखता है

“एक मूर्ति में सिमट गई किस भाँति मिथिया सारी ?

कब या ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है मारी ?

लाल लाल ये चरण कमल-से, कूकुम से, जायक से

तन की रश्मि तम वान्ति युद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से,

जग भर की भाधुरी अरुण अचरो में भरी हुई सी।

भाँति में वाहणी-रग निहा कुछ भरी हुई-सी।

तन प्रकान्ति भुकुलित अनन्त अपाधों की लाती सी,

नृत्यता सपूर्ण जगत की सचित हरियाली सी।

पग पड़ते ही फूट पड़े विदुम प्रवाल धूलों से

जहाँ लड़ो हो वहाँ ध्योम भर जाय श्वेत फूलों से।”^१

यह वैभव-स्पर्श की सिहरन छायावादी कवि की सिहरन में गुणात्मक दृष्टि से मिला नहीं है। परन्तु जो उद्बलन इस वर्णन में है उनका आप्लावनकारी उद्बलन छायावादी कवि के ऐसे ही वर्णनों में नहीं मिलता।

इस रोमाण्टिक आवेश के बाद दूसरा स्तर उन भावविभोर कर देनेवाली मासकता का है जिसमें से अन्ततः दिनकर का अतीन्द्रिय प्रेम प्रस्फुटित होता है। पुरुरवा उर्वशी में अपनी मन स्थिति एवं अनुभूतियों का चित्रण करते हुए बार-बार उस अतीन्द्रिय मनोदशा की ओर सचेत करता है। पुरुरवा की मास-मत्ता के बीच में उमरनेवाली यह अतीन्द्रिय प्रेम दृष्टि वस्तुतः कवि दिनकर की अपनी उर्ध्वमृगी प्रेम-दृष्टि है, जो शरीर के भोग की पूरी तत्नीनता तथा तनयता का स्वीकार करते हुए भी अम्लतः उससे परे जाने की कोशिश करती है। अतएव उनसे लिए आखिरी मजिज नहीं है, किन्तु वह त्याग्य भी नहीं है। वह बीच की एक अनिवार्य एवं आनन्द-दायिनी मजिज है। सामान्य नर की प्रेम की भूय तथा कवि की सालमा के अन्तर को रेखांकित करते हुए दिनकर पुरुरवा के माध्यम में कहते हैं

“नर समेट रखता बांहों में स्थूल देह नारी की, 111
 शोभा की आभा-सरण से कवि प्रीड़ा करता है ।
 तन्मय हो मुनता मनुष्य जब स्वर कोकिलफलों का,
 बधि हो रहता सोन रूप को उज्ज्वल भनारो में ।
 मर चाहता सबेह लीज रख लेना जिसे हृदय में,
 कवि नारो के उस स्वरूप का अतिप्रमण करता है ।”^१

जैसा कि पीयर आन्द्रे ने ‘डिवाइन व्यूटी’ का चित्रण किया है, कवि दिनकर की नारी भी वैसी ही हो जाती है । दिनकर देह को प्रेम की जन्मभूमि तो मानते हैं, किन्तु अन्ततः शरीर की सीमाओं को पार कर वह ‘अलिप्त पकज’ बन जाता है । उन्हीं के शब्दों में—

“देह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर उसके विचारण की
 सारी सीमा-भूमि नहीं सीमित है इधर स्वप्न तक,
 यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुहा सोको में,
 जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका बरती है,
 और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुख मण्डल में,
 किसी दिव्य अद्ययन कमल की ममस्कार करता है ।”

दिनकर इस अतिप्रमण को शरीर की अथवा प्रेम की पाषण्डिता की निन्दा के रूप में, त्याग के रूप में, नहीं ग्रहण करते हैं । यह तो उसी प्रेम की प्रशस्ति है तथा ‘शोणित’ के तप्त ज्वलन का स्निग्ध शान्त दीपक की सौम्य शिखा के रूप में परिवर्तन है । अन्त में उस प्रणय-भ्रम पर पहुँच कर किस मनःस्थिति में पहुँचना होता है उसका चित्रण कवि के शब्दों में ही देखे —

“प्रणय भ्रम की निश्चेतना में अधोर बाँहों के,
 आलिंगन में देह नहीं स्तब्ध यही विभा बँधतो है ।
 और धूमते जब अचेत हो हम असंज्ञ अवरो को,
 यह धुम्रान अदृश्य के अधरों पर चढ़ जाता है ।”^२

यह पाषण्ड प्रेम का उन्नयन कोई चिन्तन का आदर्श नहीं है । कवि दिन-

कर स्वयं उस मनोभूमि पर बार-बार पहुँचे हैं जिसकी अभिव्यक्ति गुरूरवा के शब्दों में होनी है। यह उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रखर अभिव्यक्ति है।

छायावादोत्तर कवियों में अचल, नवीन और नरेन्द्र शर्मा के कवि-व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। अचल की मासल शृंगारिकता, नवीन की आतकवादी फाकेमस्ती एवं नरेन्द्र शर्मा की कोमल प्रणयाकुलता अपने वैयक्तिक सस्यशों का गहरा प्रभाव देते हैं।



वैयक्तिकता का नया परिप्रेक्ष्य : अज्ञेय

०

(फ) अज्ञेय व्यक्तित्व की रचना

हिन्दी काव्य-जगत् में अज्ञेय का आविर्भाव सभी दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण मोड़ माना जायेगा। छायावाद रगमच से नेपथ्य में जा चुका था। छायावादोत्तर कवि अपनी सरल अभिव्यक्ति-युक्त कविताओं का रचते हुए भी सृजनात्मकता का कोई गहरा प्रभाव नहीं डाल पा रहे थे। उनमें युग की मनीषा जैसे अभिव्यक्ति नहीं पा रही थी। प्रगति-कविताओं का ऊँची आवाज़ में नई काव्यधारा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जा रहा था। अत्यधिक राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण और गहरी साहित्यिक संवेदना के अभाव में प्रगतिवादी काव्यधारा स्वतः सूख रही थी। उस प्रवृत्ति के समर्थ कवि भी काव्य रचना के स्तर पर केवल राजनीतिक खेमबन्दी में अपने को सीमित करना स्वीकार नहीं कर सकते थे। अज्ञेय ऐसे ही सन्नमन के बिन्दु पर हिन्दी कविता के इतिहास में अवतरित हुए। पुराने सारे मूल्य, आस्थाएँ, अभिव्यक्ति की शैलियाँ एवं परंपरागत काव्य भाषा चरमरा कर टूट रही थी। नये मूल्यों तथा आस्थाओं का निर्माण नहीं हो सका था। छायावादी काव्य की रोमांटिक प्रवृत्ति से हटकर कविता रचने की प्रवृत्ति अज्ञेय में स्पष्ट देखी जा सकती है। इसी प्रकार भावना के साथ विचार की सृजनात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का गंभीर यत्न भी अज्ञेय की कविता में दिखलाई पड़ता है। डाक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी की इस भाष्यता से पूरी तौर पर सहमत हुआ जा सकता है “अज्ञेय की कविता गैर-रोमांटिक है, यह कहना शायद बहुत ठीक न हो। पर अज्ञेय में गैर-रोमांटिक कविता की सम्भावना विद्युत होती अवश्य दिखलाई पड़ती है।”^१

देश के अन्दर पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष अधिक निश्चार पर आ रहा था। बीसो वर्षों के गाँधीवादी अहिंसात्मक प्रतीक-सत्याग्रहों की लम्बी शृंखला के बाद पूरे देश की चेतना एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुकी थी, जो अप्रेजों को और अधिक बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी। छिट-पुट क्रांतिकारी विस्फोटों के स्थान पर पूरा देश सामूहिक विस्फोट के लिए पक चुका था। सुभाष बाबू

१. ‘अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या’—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

यद्यपि गांधी जी के अहिंसात्मक तरीको से असहमत होकर देश के बाहर जाने को विवश हुए थे, किन्तु बाहर जाकर भारतीय स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने वाली आजाद हिन्द फौज का गठन उन्होंने कर लिया था, इससे तत्कालीन देश के मनोबल का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। जिस प्रकार तमाम शीर्षस्थ राज-नेताओं की गिरफ्तारी के बाद अगस्त १९४२ में देश भर में क्रान्ति का ज्वार दिखाई पड़ा उससे भी इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्र उस समय किस ऊँचाई पर पहुँचा हुआ था। साहित्य के क्षेत्र में एक विराट् व्यक्तित्व की अवतारणा युग की आवश्यकता बन गई थी। इस विराट् पीठिका में ही अज्ञेय के आविर्भाव के तथ्य को मूल्यांकित करना होगा।

अज्ञेय के सबेदनशील व्यक्तित्व का निर्माण जिन अनुभूतियों के धागों से हो रहा था उनके साथ उनके अध्ययन एवं चिंतन भी उनकी रचनात्मक क्षमता को निखार रहे थे। प्रारम्भ से ही उनके मन में यह धारणा गहरे पैँठी हुई थी कि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से मुक्त होकर ही उत्कृष्ट रचना की जा सकती है। यह बात के विभिन्न प्रसंगों में बार-बार दुहराते हैं—

“वास्तव में आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिकाधिक बँधी हुई होती जा रही है। काव्य रचना या किसी भी कलासृष्टि का अधिकार तभी प्रारम्भ होता है जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाये, यह मानना तो दूर की बात रही, आज का कवि साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता याकि कला-सृष्टि व्यक्ति के विलयन का माध्यम है, याकि कविता के द्वारा कवि-व्यक्ति को बृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है। आज का कवि तो कविता को वरन् व्यक्तित्व को, व्यक्ति के अहं को, प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करनेवाली रचना मानता है। मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ, अधिक से अधिक उस श्रेणी का हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं। बल्कि सच कहूँ तो इतना भी इसलिए कि मैं युग की सीमा को इस हद तक स्वीकार करता हूँ, और उसमें बढ होने को विवश हूँ। नहीं तो यह मुझे सर्वथा स्वीकार है कि प्राचीन कवियों की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे। उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द-साधना थी।”

इस प्रकार का सकल व्यक्त करनेवाला कवि अपने युग का सबसे बड़ा अहं-वादी कवि घोषित किया गया। इस स्थिति के पीछे कौन से विरोधाभास हैं?

कौन से द्वन्द्वात्मक तत्व हैं, इसका गहरा विश्लेषण ही अज्ञेय के व्यक्तित्व के वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायक हो सकेगा ।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है अज्ञेय का व्यक्तित्व एक बहुत ही समर्थ एवं विराट् व्यक्तित्व है । उसका निर्माण उत्कृष्टतम मनीषा एवं चरम साधना के गहरे संयोग से हुआ है । यह संयोग कभी-कभी ही हो पाता है । यह अज्ञेय ही है जिन्हें भौतिक जगत् की कोई पीड़ा जैसे सताती ही नहीं । जिन सुविधाओं के लिए लोग जीवन में निकृष्टतम समझोते करते हैं, या जो समझोता नहीं करते, संघर्ष की चक्की में पीस दिये जाते हैं, उन सुख-सुविधाओं को बिना कोई समझोता किये केवल अपनी साधना एवं सामर्थ्य के बल पर अज्ञेय बार-बार अर्जित करते हैं और बार-बार उन पर ठोकर मार देते हैं । इस प्रकार के जोखिम वे अपनी जवानी में ही नहीं उठाते, बल्कि बुढ़ापे तक वही क्रम जारी रहता है । ऐसा कर सकना किसी विरले ही व्यक्ति के लिए संभव होता है । उन्होंने कितने प्रकार के काम सीखे थे इसका उल्लेख उन्हीं के शब्दों में 'मैं कपड़े सी लेता हूँ, जूते गाँठ लेता हूँ, फर्नीचर जोड़ लेता हूँ, मिठाई-पकवान बना लेता हूँ, जिल्दबन्दी कर लेता हूँ । पथे, साइकिल, मोटर, बिजली के छोटे-मोटे यन्त्र इनकी सफाई और थोड़ी-बहुत मरम्मत कर लेता हूँ । बिलायती ढंग से बाल काट सकता हूँ, चाँभियाँ खो जावें तो ताले खोल दे सकता हूँ, सूत कात लेता हूँ, मिटटी के खिलौने बना लेता हूँ, काठ के ठोप्पे खोदकर कपड़े छाप लेता हूँ, सचि तैयार कर भूतियाँ बना लेता हूँ, प्रूफ देख लेता हूँ, कम्पोज़ कर लेता हूँ । प्रेस की मशीन चला लेता हूँ । फोटो खींचता हूँ, फिल्म और प्रिण्ट डेवलप कर लेता हूँ, हाथ से रँग लेता हूँ । घर की पुताई कर लेता हूँ, सीमेंट के गमले बना लेता हूँ । फूलों और तरकारी की खेती कर लेता हूँ । फाँवड़ा, कुल्हाड़ी, गैती चला लेता हूँ, निराई कर लेता हूँ । बन्दूक, पिस्तौल चला लेता हूँ । तैर लेता हूँ, दौड़ लेता हूँ, पहाड़ चढ़ लेता हूँ, क्रिकेट, टेनिस, बैडमिंटन खेल लेता हूँ । और इन सब में केवल शौक रखता हूँ, ऐसा नहीं है । अधिकांश में से किसी के भी सहारे आजीविका भी कमा ले सकता हूँ, और जो नहीं जानता वह सीखने को हमेशा तैयार हूँ ।'^१

इस सूची को पढ़कर बड़े से बड़े समर्थ व्यक्ति की आँखें चौंधिया जायेंगी । पूरे ससार में किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ना शायद संभव न हो पाये, जो इतनी कुशलताएँ अपने व्यक्तित्व में एक साथ अर्जित कर सका

हो । फिर ऐसे व्यक्ति को जीवन की भौतिक कठिनाइयाँ कितना छू सकती हैं ? साधना ही जिसका शौक हो, उसके लिए कठिनाई शब्द ही निरर्थक है और इतनी विराट साधना वाला व्यक्ति कवि है, यह सूचना और भी अधिक विस्मयकारी मानी जा सकती है, क्योंकि जिसके हाथ, मन और मस्तिष्क इतने व्यापारों में उलझे हो वह अपनी संवेदनशीलता को काव्य रूप में जीवन भर बानता रहा, यह एक अतिमानवीय उपलब्धि प्रतीत होती है । एक सशक्त साहित्यकार के रूप में भी अज्ञेय ने साहित्य की अनेक विधाओं में अपने को अभिव्यक्त किया है । वे जितने उच्चकोटि के कवि हैं, उतने ही श्रेष्ठ उपन्यासकार उसी काटि में कहानीकार, उतने ही संवेदनशील सस्मरण-लेखक और उसी पाये में चिंतक । सबसे बड़ी विशेषता अज्ञेय की यह रही है कि उनकी एक विधा दूसरी पर हावी नहीं हो पाती । जयशंकर प्रसाद का कवि उनके नवग्रामकार या वन्यजीकार पर उतनी उत्तम है । अज्ञेय की यही ही कविता

भा स्वतंत्र एवं मौलिक बन रहता है । उनका काव्य उनके उपन्यासों एवं कहानियों में उतनी ही दिखलाई पड़ती है, जितने भर से उनका उपन्यासकार या कहानीकार बिना आक्रान्त हुए अपनी विधा को पूरी सफलता तक ले जा सकता है । अज्ञेय का गद्य-साहित्य उनके काव्य से सर्वथा अलग व्यक्तित्व रखता है ।

अज्ञेय के व्यक्तित्व में जो एक निरंतर बनी रहनेवाली गतिशीलता एवं सृजनात्मकता है वही, उन्हें अन्य रचनाकारों से काफी भिन्न और ऊँचा बनाती है । अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता से जो गाम्भीर्य एवं शोध की प्रवृत्ति उन्हें विरासत में मिली, उस लेकर संपूर्ण विश्व में यायावरी करते हुए अज्ञेय ने निरंतर अपने व्यक्तित्व को समृद्ध किया है । भारतीयता जहाँ उनके सस्कारों में कूट-कूट कर भरी हुई है वही उन्होंने सारे ससार के सांस्कृतिक वैभव से अपने चिन्तन एवं सस्कार को माँजा है ।

अज्ञेय कई अर्थों में अन्तर्मुखी हैं और अपने निजी जीवन के विषय में बात करना, उस चर्चा का विषय बनाना उन्हें रुचिकर नहीं है । फिर भी अज्ञेय ने अपनी चिन्तन प्रक्रिया, अपनी रचना प्रक्रिया और अपने व्यक्तिगत आग्रहों के विषय में इतना कुछ लिखा है कि उसके अध्ययन के बाद उन्हें काफी दूर तक समझा जा सकता है । एक वाक्य में कहा जाये तो यही कहना होगा कि अज्ञेय का व्यक्तित्व गाँव की झोपड़ी और घूल-माटी से लेकर हिमालय की ऊँची चोटियाँ तक फैला हुआ है । गरीबी को उन्होंने सृजनात्मक स्तर पर उसी प्रकार आत्मसात् किया है जिस प्रकार समृद्धि को ।

अज्ञेय का अहं

प्रयोगशील कविता के प्रवर्तक तथा नई कविता के जनक के रूप में अज्ञेय के अहं की चर्चा बहुत हुई है। परन्तु उनके काव्य में उनका अहं किन-किन रूपों में व्यक्त हुआ है, इस पर गहराई एवं सहानुभूतिपूर्वक विचार कम ही हुआ है। अज्ञेय के काव्य में वैयक्तिकता का एक परस्पर विरोधी, द्वन्द्वात्मक रूप आरम्भ से अन्त तक दिखाई पड़ता है। एक ओर अनजाने उनका विराट् अहं (जिसके बिना इतने विराट् व्यक्तित्व की निर्मिति संभव ही नहीं थी) बार-बार साबित होता है तो दूसरी ओर अज्ञेय का सचेतन मन उस अहं से स्वयं निरन्तर जूझता हुआ, उसे लहलुहान करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके सम्पूर्ण काव्य-विकास में नेवले और साँप का रक्तमय युद्ध आरम्भ से अन्त तक देखा जा सकता है। काव्य के प्रारम्भिक दौर में जहाँ अहं का विस्फोट तीव्र था और “इयत्ता की स्फीति” स्पष्ट रूप से हावी थी, वही बाद की कविताओं में अहं का विसर्जन तथा ‘मैं’ के ‘हम’ के साथ एकात्म होने का भाव प्रबलतर होता चला जाता है। व्यष्टि और समष्टि का, अहं के उद्घोष तथा उसके विसर्जन का जो द्वन्द्व अज्ञेय के काव्य में लक्षित होता है, उसे वस्तुतः एक युग के विराट्-तम व्यक्तित्व के निर्माण और निखार की प्रक्रिया के रूप में देखा या समझा जा सकता है।

अहं का विस्फोट—‘इत्यलम्’ से ‘हरी घास पर क्षण भर’ तक

“इत्यलम्” के पूर्व की रचनाओं में अज्ञेय का कवि-व्यक्तित्व अपनी राह ढूँढ़ता है। भाषा के स्तर पर, चिन्तन के स्तर पर एवं अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के स्तर पर अज्ञेय अपनी विशिष्ट लीकें बनाने की प्रक्रिया में हैं। “इत्यलम्” की बहुत-सी रचनाओं एवं उसके पूर्व की रचनाओं में अज्ञेय एक साथ छायावादी, छायावादोत्तर एवं छायावाद-पूर्व काव्य-धाराओं की शैलियों से टकरा रहे हैं। अपनी भाषा, अपने विषय एवं प्रतीकों की प्रणाली ढालने की उनकी कोशिश अभी सुनिश्चित राह पर नहीं चल सकी है। परन्तु ‘इत्यलम्’ के अन्त की कुछ कविताओं में उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व काफी सफाई से निखरता हुआ नज़र आता है। ‘जन्म दिवस’, ‘छब्बीस जनवरी’, ‘बाहु मेरे रुके रहे’ जैसी कविताओं का मिजाज सर्वथा नया न होते हुए भी नयेपन से भरपूर है। ‘इत्यलम्’ के अन्त में अज्ञेय का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से सामने आता है।

प्रारम्भ से ही अह के उभार के साथ उसके विसर्जन का भी आभास मिलने लगता है। प्रारम्भिक एक कविता की निम्न पक्तियाँ देखें—

“दीपक हूँ मस्तक पर मेरे
अग्नि-शिखा है नाच रही—
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी।

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवन की
शव से उठने लगा घुआ,”

इस प्रारम्भिक रचना में भी एक ओर दीपक का अपने मस्तक पर नाचती हुई अग्नि शिखा के कारण दीप्त अभिमान झकृत होता है, तो दूसरी ओर बुझ जाने पर एक गहरी अवसाद-भावना घुआ देने लगती है। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण पक्ष इसी कविता की अन्तिम पक्तियों में ध्वनित होता है। दीपक को अपने अकेले के बुझ जाने का क्लेश व्यस्त उतना नहीं होता जितना ‘सुन्दर ज्योतिर्माता’ के खडित होने की वेदना

“बना रहो थी हमने दीपो
की सुन्दर ज्योतिर्माता—
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
उसको खडित कर डाला।”

इस प्रकार प्रारम्भ से ही अज्ञेय की अह से स्फीत रचनाओं में भी एक प्रमुख स्वर अह के विसर्जन का भी रहा है।

‘भग्न-दूत’ की ही एक दूसरी कविता ‘नहीं तेरे चरणों में’ में कवि के आहत अभिमान का एक करुण रूप दिखलाई पड़ता है

‘बानन का सौन्दर्य सूट कर,
सुमन झटके करके,
घो मुरमित मोहार कणों से
आचल में मैं भर के,
देख। आऊँगा तेरे द्वार।

किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहा—

इन अभिमानपूर्ण उक्ति की परिणति जितनी वम्पन है, इसका दर्शन इन पक्तियों में किया जा सकता है

तोड़ मरोड़ फूल अपने में
पय मे बिलराऊँगा;
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा ।

+ + +
शायद आँखें भर आयें—
आँखों से मुझ डक लूँगा ;
आँखों में, उर में क्या है, वह
तुम्हें न दिलने दूँगा ।”

परन्तु क्या सचमुच वह वरुण बचोट जो आँखों और हृदय में भरी हुई है, बिना दिखे रह जाती है ?

उसी खण्ड की एक दूसरी कविता “गान” में कवि अपने विफल प्रणय की वेदना को विश्व-क्षेत्र में खो जाने का आह्वान करता है । कविता बहुत अधिक मर्मस्पर्शनी नहीं बन पाई है, क्योंकि चीत्कार का स्वर अधिक मुखर हो उठा है, परन्तु इतना तो लक्षित किया ही जा सकता है कि वह उस विफल प्रणय की पुजीभूत वेदना को विश्व-क्षेत्र में खो जाने का ही आह्वान है ।

“विकले । विश्वक्षेत्र में लो जा ।

पुजीभूते प्रणय वेदने ।

आज विस्मृता हो जा”^१

“इत्यलम्” के ‘वन्दी-स्वप्न’ खण्ड में ‘गा दी’ शीर्षक कविता में कवि का आत्मविश्वास, दर्शनीय है

“आज शक्त हूँ, पर दिन था जब

सारा जग अजुली मे लेकर

ईश्वर-सा मैंने उसको था

एक स्वप्न पर किया निष्ठावर ।

उस उदारता की ज्वाला-सा उर में पुन जिला दो ।

बहुत दिनों के बाद आज कवि,

मुझमें फिर कुछ जाग रहा है,

दर्द भरे अप्रतिहत स्वर में

जाने क्या कुछ माँग रहा है,

मेरे प्रार्थों के तारों को छूकर फिर तड़पा दो ।

अभी शक्ति है कवि, इस जग को
 धूली सा अंजुली में लेकर
 बिखरा दूँ बह जाने दूँ या
 रचूँ किसी नूतन की सय पर ।
 तुम भुङ्गको अनयक कृतित्व का मूल राम सुना दो ।
 कवि एक बार फिर गा दो ।

जग को धूली-सा अंजुली में लेकर बिखरा देने अथवा वहाँ देने अथवा किसी नूतन सय पर रचने का दम्भ या विश्वास अज्ञेय के कवि-मन को था । इसे चाहे "इयत्ता की स्फीति" कहे या एक हिमालय जैसा आत्मविश्वास, परन्तु यह पूँजी तो अज्ञेय के पास थी ही, जिसके सहारे उनका विराट् व्यक्तित्व बन सका था । 'प्रार्थना' शीर्षक कविता में अज्ञेय का अपनी सक्षमता का अभिमान एवं जग की द्रष्टा दुर्दम शक्ति से की गई प्रार्थना के बीच का खिचाव इस संदर्भ में रेखांकित करने लायक है :

"बुझ कर नहीं दीप्त रह कर ही
 मैं आ पाऊँ तेरे पास"

यह दीप्त रहते हुए स्रष्टा तक पहुँचने का भाव ही अज्ञेय की वैयक्तिकता का मूल भाव है । 'इयत्तम्' की एक कविता में उन्होंने लिखा है :

"निरालोक यह मेरा घर रहने दो ।

सीमित स्नेह विकम्पित धाती—

इन दीपो में नहीं समायेगी मेरी यह जीवन धाती—

पंच प्राण की अनश्लिष ली से

ही ये चरण मुझे गहने दो

निरालोक यह मेरा घर रहने दो ।"

अपने पंच प्राणों की अनश्लिष ली पर यह अटूट विश्वास, अज्ञेय की मूल पूँजी है । लेकिन उस प्रकाश के साथ चरण गहने की आकांक्षा भी है । अज्ञेय ने अपने अह के विसर्जन की अनुभूति किन गहन क्षणों में की थी, उसका दर्शन इन पक्तियों में किया जा सकता है .

नहीं मुझमें तोड़ कोई अह की अभिव्यजना जागो

नहीं उमड़ा घुमड़ता संसृब्ध उर में वासना का

बुदबुदाता ज्वार ।

महीं दूमर हुआ हमको स्वयं अपना दान

मिलन के अतिरेक का प्रस्वेद-श्लथ संभार ।"

५२ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

यह चित्र प्रणयी-युगल के वासनामुक्त मिलन की स्थिति को प्रस्तुत करता है। एक लम्बी प्रतीक्षा के बाद घटित होनेवाले मिलन में कवि की अह-युक्त प्रणयानुभूति का एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। अज्ञेय अपने अह के सर्प को फन उठाते हुए नहीं देखना चाहते, फिर भी वह अह अनेक रूपों में उनकी कविताओं में झाँकता रहता है। साथ ही विसर्जन का भाव भी उसी तरह प्रत्येक ऐसी कविता में मुखरित होता रहता है। इस दृष्टि से 'इत्यलम्' की "जन्म दिवस" शीर्षक कविता महत्वपूर्ण है। इस कविता में जहाँ एक ओर कवि के उद्धत अह को इन पक्तियों में देखा जा सकता है

“मैं मरूँगा सुखी,
 क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था
 (पिना कहलाते हो तो
 जीवन के तत्त्व पाँच
 चाहे जैसे पुंजबद्ध हुए हों
 श्रेय तो तुम्हीं को होगा।)
 उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ —
 तुमसे हाथों उसे मैंने बारा है
 परिजयाँ उड़ाई हूँ।”

तो वही दूसरी ओर उसी कविता की अन्तिम पक्तियों में अज्ञेय का समर्पणशील चिर-कृतज्ञ व्यक्तित्व इन शब्दों में मुखरित होता है

“किन्तु नहीं धोता; मैं पाटियाँ आमार की,
 उनके समझ, दिया जिन्होंने बहुत कुछ किन्तु जो
 अपने को वाता नहीं मानते—नहीं जानते
 अमुत्तर नारियाँ,
 धूलभरे शिशु लग,
 ओस नमो फून,
 गन्ध मिट्टी पर पहले असाढ़ के अयाने चारि-विन्दु की,
 फोटरोँ से झारती गिलहरी,
 स्तम्भ, लयबद्ध भँवरा टका-सा जधर मे,
 चाँदनी से बसा हुआ कुहरा,
 पीली धूप, शारदीय प्रात की,
 बाजरे के छेतों में फसाँगती
 डार हिरनों की धरसात मे—

मत है मैं

सब के समक्ष बार-बार मैं विनीत स्वर

ऋण-स्वीकारी हूँ—

विनत हूँ ।”

अमुखर नारियो, घूलभरे शिशु, ओस-नमै फूल, हिरनों की डार और प्रकृति के कण-कण से अपने व्यक्तित्व-निर्माण का अवदान स्वीकार करनेवाले कवि को सहज ही अहंकारी नहीं कहा जा सकता ।

अज्ञेय में एक सचेत भाव अपनी असाधारणता को लेकर जो बना है उसे अहंकार की सजा देकर तिरस्कृत कर देने का प्रयास उचित नहीं है । वह तो एक ऐसे व्यक्तित्व का बिम्ब भर है, जिसका निर्माण अद्वितीय प्रतिभा, हिमालय सरीखे संकल्प, अप्रतिम अध्यवसाय एवं गहरे भारतीय संस्कारों के आँव में तप कर हुआ है । इसीलिए उनकी वैयक्तिकता को व्यक्तिवादिता कहकर एक तरफ नहीं किया जा सकता ।

“हरी घास पर ढण भर” की महली कविता “कितनी शांति ! कितनी शांति” में कवि अपने अहं को सकेतित करते हुए स्वयं कहता है :

“क्यों नहीं अन्तरगुहा का अमृत-खल-दुर्बाध्य वासी,

अविर थापावर, अविर से घिर प्रवासी

महीं रुक्ता, चाह कर-स्वीकार कर-विध्वान्ति ?”

अपनी अन्तरगुहा के दुर्बाध्यवासी को कोसते हुए और अपने ऊपर अहंवादी होने के आरोपो को स्मरण करते हुए कवि स्वयं से पूछता है :

अहं ? अन्तर्गुहा वासी ? स्वरति ?

क्या मैं चीहता कोई न दूजी राह ?

जानता क्या नहीं, निज में घट्ट होकर है—

नही निर्वाह ?

सुद्र नलकी में समाना है कहीं बेयाह

मुबत जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का

तेज-दीप्त प्रवाह ?

जानता है, नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को

देने, स्वयं का दान,

विश्वजन की अर्चना में नहीं बाधक था—

५४ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

कभी इस व्यष्टि का अभिमान ?

कान्ति अणु की है सदा गुरु-पुंज का सम्मान ।”

इन पंक्तियों में अज्ञेय की इस विनम्र सफाई को कैसे नजर-अन्दाज किया जा सकता है ? उन्होंने तो स्वयं कहा है कि अपने ही में घड़ होकर निर्वाह समभव नहीं है, निजस्व की क्षुद्र नलकी में बेयाह, मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यजना का तेज-दीप्त प्रवाह नहीं समा सकता । वे स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं कि इस व्यष्टि का अभिमान कभी भी विश्वजन की अर्चना में बाधक नहीं था, कभी भी उन्हें अपने स्वयं का समवाय के प्रति दान करना सकोच का कारण नहीं बना । आगे की पंक्तियों में वे कहते हैं :

मुझ सरीखी अग्नि लीकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान
नई, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती है युगों की राह”

इस आत्मस्वीकार के बाद अहंवादिता का आरोप स्वतः असंगत-सा लगने लगता है । जब वे स्वयं अपने को अनगिनत लीकों में से एक मानते हैं, जिनसे युगों की राह नई, पक्की और प्रशस्त बनती है, फिर दूसरों को कहने को क्या बचता है ? किन्तु अज्ञेय इतना जानते हैं कि कान्तिहीन अणु स गुरु-पुंज का सम्मान नहीं हो सकता । वे लिखते हैं

“कौन तुम ? अज्ञात वय-कुल-जील मेरे भीत ?

कर्म की बाधा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम
कब तुम्हारे हित थमा सघर्ष मेरा, रुका मेरा काम
तुम्हें धारे हृदय मे, मैं झुते हाथों सदा दूंगा—

बाह्य का जो देव

नहीं गिरने तक कहूँगा, तनिक ठहरे ब्योकि
मेरा चुक गया पायेय ।”

यही अज्ञात वय-कुल-जील मिथ अज्ञेय का तथाकथित अहं है, जिसको हृदय में धारे हुए वे सदा बाह्य का सम्पूर्ण देव झुले हाथों देते रहते हैं । इसी के सहारे वे यह भी कह पाते हैं कि पायेय चुकने का कारण बताकर कभी वे रुकेंगे नहीं । यही तो अज्ञेय के लिए उनका कर्म है, उनकी दीप्ति है, उनका उद्भव और निधन है, उनकी पहली है, जिससे वे पूरी तौर पर बंधे हुए हैं । चूंकि यह उन्हीं की पहली है अतः दूसरों को रहस्यमय अगे ओ अचरज क्या ?

“बावरा अहेरी” शीर्षक कविता में उगते हुए सूर्य को अहेरी की सजा देते हुए, उससे प्रार्थना करते हुए अज्ञेय कहते हैं :

“बाबरे अहेरी रे,
 कुछ भी अवघ्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
 एक बस मेरे मन विवर ने दुबकी कलौस को
 दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जायेगा ?
 ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
 मेरे इस खण्डर की शिरा शिरा छेद दे
 आलोक की अनी से अपनी,
 लूट सारा दाह कर दूह भर कर दे :
 विफल दिनों को तू कलौस पर भाँज जा
 मेरी आँखें आज जा
 कि तुझे देखूँ
 देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
 पहनूँ शिरोपे से ये कनक-तारे तेरे
 बाबरे अहेरी ।”^१

इस कविता में एक खुली आत्म-स्वीकार की भावना है। कवि को अहसास है कि उसके मन के विवर में कलौस दुबकी हुई है, किन्तु वह तो सूर्य से स्वयं प्रार्थी है कि अपने आलोक की अनी से कवि के खण्डर की शिरा शिरा को वेध दे, उसके अन्दर के सारे गडों को टाह दे। इसलिए बाहर वालों के अह्वादिता के आरोप इस आत्मस्वीकृति के समक्ष न केवल अत्यन्त हल्के पड़ जाते हैं, बरन् असंगत भी हो जाते हैं। यहाँ ईश्वर के सामने भक्त कवियों द्वारा अपने को “मो सम कौन घुटिल खल कामी” कहने का भाव पुनः सङ्कट हो जाता है। इसका यदि दूसरे यह अर्थ लगायें कि वे सूर और तुलसी से अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट व्यक्तित्व वाले हैं तो यह एक हँसी की बात होगी। अज्ञेय की यह स्वीकृति तो स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वे पूर्णतः अपने अह के गडों को टाहने के लिए कृत-संकल्प हैं।

कवि अपने निजी अनुभव के सत्य को कितना महनीय मानता है, उसके प्रति कितना समर्पण-भाव है उसका, इसे हम उसकी इन पक्तियों में देख सकते हैं

“पर तुम,

नभ के तम कि गुहा-गह्वर के तम

मोम के तुम, पत्थर के तुम
 तुम किसी देवता से नहीं निकले :
 तुम मेरे साथ मेरे ही आँगु मे गले
 मेरे ही रक्त पर पले
 अनुभव के दाह पर क्षण-क्षण उक्सती
 मेरी अशमित धिता पर
 तुम मेरे ही साथ, बले ।
 तुम—
 तुम्हें तो
 भस्म हो
 मैंने फिर अपनी भभूत मे पाया ।
 अंग रमाया ”१

अज्ञेय का यह निजी सत्य उनके द्वारा भस्म होकर अपनी ही भभूत मे पाया गया है । वे सत्य ही कहते हैं कि अपने अनुभव की भट्टी मे तपे हुए अन्तर्दृष्टि के कण दो कण पराई अनुभूति और झूठे मुस्के और वादो से अच्छे हैं । अपना खडित सत्य भी 'सुघर और नीरन्ध्र मृपा से' अच्छा है । इसी प्रक्रिया मे अज्ञेय ने अपना निष्कम्प आत्मविश्वास प्राप्त किया है । जब वे कहते हैं -

“जो कभी हारा नहीं था, हारता ही किसी से जो नहीं
 अपने से चला अब हार”२

तो इसमे दोनो स्वर साथ ही सकृव होते हैं । एक तो यह कि वह किसी से भी हारने वाला व्यक्तित्व नहीं है, परन्तु वह स्वयं मे ही हार जाता है । सडाई उनकी अपने आप से है और जैसा प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि उस युद्ध मे अज्ञेय ने अपने अह का पूर्ण विसर्जन कर दिया है अपने को होम कर दिया है । 'अज्ञेय' के आत्मविश्वास का ओजस्वी एवं अदम्य स्वर उनकी 'देसू' शीर्षक कविता मे देखा जा सकता है :

“घोष तो न जाने फव आयेगा ।
 तब तक मैं उसका एक अकिंचन अग्रदूत
 अपनी अलख आस्था के साक्ष्य रूप
 मशाल जला दूँ

१ “इन्द्रधनु रौंदि हुए ये”—अज्ञेय, पृ० १८ ।

२. “इन्द्रधनु रौंदि हुए ये”—अज्ञेय, पृ० १३ ।

न सही क्षय-प्रस्त नगर में—

इस वन खण्डी में आग लगा दूँ ।”^१

इन पक्तियों में जहाँ अपनी अखण्ड आत्मा के साक्ष्य में वनखण्डी में आग लगा देने का दुर्दम्य सकल्प है, वही यह स्पष्ट बोध भी है कि ‘टेसू’ ग्रीष्म नहीं है, उसका एक अक्विचन अग्रदूत मात्र है। क्षय प्रस्त नगर को राग मुक्त तो ग्रीष्म ही कर सकता है, किन्तु ‘टेसू’ भी प्रतीक्षा नहीं करना चाहता, वनखण्डी में ही सही, आग लगा देता है।

अज्ञेय अपने व्यक्तित्व को पूर्णता तक पहुँचाने के सकल्प से प्रतिबद्ध है। इसीलिए वे किसी भी सपने के प्रखर से प्रखर झोके को सह जाने में सक्षम हुए हैं। इतना ही नहीं उन लोगों की अतृप्ति को भी लेकर आगे बढ़ने में सक्षम हुए हैं, जो अपने जीवन-सपने में असमय ही टूट गये। उनके इस विराट् सकल्प की झाँकी इन पक्तियों में देखी जा सकती है

“मेरे आह्वान से अगर प्रेत आगते हैं

मेरे सगे, मेरे भाइयो,

तो तुम चौकते क्यों हो ?

मुझे दोष क्यों देते हो ?

वे तुम्हारे ही तो प्रेत हैं ।

तुमसे किसने कहा था, मेरे भाइयो,

कि तुम अघूरे और अतृप्त मर जाओ ?

मैं तुम्हारे साथ जिया हूँ

तुम्हारे साथ मैंने कष्ट पाया है

यातनायें सही हैं

किन्तु तुम्हारे साथ मैं मरा नहीं हूँ

क्योंकि तुमने तुम्हारा शेष कष्ट भागने के लिए मुझे चुना

मैं अपने ही नहीं, तुम्हारे भी सलोच का चाहक हूँ ।”^२

अज्ञेय में जो यह दूसरों को अतृप्ति और अघूरेपन को लेकर भी तृप्ति और पूर्णता तक जीने की विराट् सकल्प-भावना है, उसे दम्भ या अहं की सजा देना स्थिति का अतिसरलीकरण है। जो टूट गये उनकी सपूर्णता की ओर उठे हुए दुर्दमनीय हाथों को अपने हाथों में सम्हाले हुए पूर्णता की ओर बढ़ने वाला

१ टेसू—“इन्द्रधनु रौंदे हुए थे”—अज्ञेय, पृ० २५।

२ ‘मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ’—‘इन्द्रधनु रौंदे हुए थे’—अज्ञेय, पृ० ३६-३७।

कवि का यह अप्रतिहत व्यक्तित्व एक भारी साधना से निमित्त हुआ है। इसमें सपूर्ण युग की वेदना और टूटन को अपने में समाविष्ट करके आगे बढ़ने की क्षमता है। यह कोरी गर्वोक्ति नहीं है। अज्ञेय ने इसे जीवन में साधा है। वे निराला या मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी या घूमिल की भाँति सलीबों पर नहीं चढ़े, तो इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने स्वाभिमान और आस्थाओं से समझौता किया, बल्कि इसलिए कि उनके व्यक्तित्व को पीसने की कोशिश में इन दमन और शोषण की चक्कियों के प्रस्तर-पाट ही दरक जाते थे। अज्ञेय की मिट्टी इन पत्थरों से अधिक कड़ी पड़ती थी। रसायन-शास्त्र की भाषा में कोयला भी कार्बन का ही एक रूप है और हीरा भी, किन्तु हीरा परिणति के उस बिन्दु पर पहुँचा हुआ रूप है, जहाँ उसको दुनिया की ओर कोई शक्ति तराश नहीं सकती है। अज्ञेय वह हीरा है जिनको तराशने के लिए अज्ञेय ही समर्थ है। हीरा ही हीरे को काट सकता है।

‘बावरा अहेरी’ से आगे की रचनाओं में अहं के विसर्जन का स्वर

पूर्णता की राह में चलते हुए अज्ञेय का व्यक्तित्व अपनी सार्यवता की अनुभूति तभी करता है, जब वह अपने को पूर्णतः समवाय के प्रति विसर्जित कर देता है। विसर्जन या यह स्वर ‘बावरा अहेरी’ से लेकर आगे की सपूर्ण रचनाओं में क्रमशः अधिक से अधिक मुखर होता गया है। ‘असाध्य बीणा’ तक पहुँचते-पहुँचते अज्ञेय का स्वर समर्पण की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ‘केशकम्बली’ के इन शब्दों को देखा जाय

“अज्ञेय नहीं कुछ मेरा ।
 मैं तो दूब गया था स्वयं शून्य में—
 बीणा के माध्यम से अपने को मैंने
 सब कुछ को सौंप दिया था—
 सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
 न बीणा का था
 वह तो सब कुछ थी तयता थी
 महाशून्य वह महामौन
 अधिभाज्य, अनाहत, अद्रवित, अप्रमेय
 जो शब्दहीन सब में गाता है”^१

अह के विसर्जन की यह चरम स्थिति है। अज्ञेय के अह की यात्रा जिस विस्फोट से प्रारम्भ हुई थी, उसकी परिणति इस विसर्जन में हुई और इस बिन्दु पर पहुँच कर जिस परम शान्ति का अनुभव वे कर सके हैं, उसका दर्शन हम उनकी अनेक रचनाओं में करते हैं। उस विसर्जित मन स्थिति की एक मनोरम झाँकी इन पक्तियों में देखी जा सकती है

“मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पखुरी
मैं देख रहा हूँ अपने को हो झरते।
मैं चुप हूँ
वह मेरे भीतर बसन्त गाता है।”

फूल से पखुरी को झरते देखकर स्वयं झरने का अनुभव तो अज्ञेय करते ही हैं परन्तु मौन होकर अपने भीतर बसन्त को गाते हुए भी सुनते हैं। यही स्वस्थ ध्येति की आनन्द साधना है।

वे अपने अह के विसर्जन को अन्तिम माध्य मानते हैं। किन्तु अपने व्यक्तित्व के चरम विकास को रोक्ना, बीच में ही अपने को गतिरुद्ध बना लेना, उस विसर्जन का अर्थ नहीं है। अपने को अपनी पूर्णता तक पहुँचाना है। बड़े से बड़े खतरे जहाँ कुछ भी अर्थ नहीं रखते हो। जीवन का मोह जहाँ निरर्थक हो जाता हो, व्यक्तित्व अपनी पूरी सृष्टि की अनुभूति से विभोर हो उस बिन्दु पर पहुँचता है। यह इयत्ता की स्फीति नहीं है, इयत्ता की दुनिवार माँग है। वही पहुँच कर वह उल्लास, वह आनन्द प्राप्त होता है, जिसको प्राप्त करके जीवन में कुछ भी और प्राप्त करने की वाछा नहीं रह जाती। उत्साल लहरो की चुनौती जहाँ आनन्द बन जाती है, उस बिन्दु पर अज्ञेय पहुँचना चाहते हैं

“जिघर से आ रही है सहृ
अपना रुल
उधर को मोड़ दो,
तट से साँवती हूँ जो झिरायें
मोह उनका थोड़ दो,
बस सागर का नहीं है राजपथ
लोक पकड़े बस सकोगे तुम उसे

घोमे पर्वों से रोदते—
 यह दुराशा छोड़ दो ।
 आज यह उत्सास, यह आनन्द
 यह जाने कि जिससे
 अनगिनत घातें बढ़ाकर
 छीठ घाचक-सा लिपटता धंग से
 माँगता ही माँगता सागर रहा है
 और जिसने जोड़कर कुछ नहीं रबसा—
 सदा बढ़ बढ़ कर दिया है—
 जो सदा उन्मुक्त हाथों, मुक्त मन
 बैठा रहा है,
 अन्तहीन अकूल अयाह सागर का धपेडा
 सदा जिसने समुद्र
 छाती पर सहा है ।
 आह ! यह उत्सास, यह आनन्द, यह जाने
 क्या है
 सनसनाता पवन जिसकी लटों से धनकर,
 धम गई है तारिका
 जिसके लिए
 ज्योम-पट पर जड़ी
 हीरे की बनी सी ज्वलित जय सकेत सी बनकर
 हर सहर ने भोर कर जिसकी
 अनागत ज्योति का स्पन्दित सबेसा भर
 कहा है ।
 जियर से आ रही है सहर
 अपना रुख
 उधर की मोड़ दो
 तरी
 सागर की सुता है
 सगिनी है पवन की,
 उसे मिलने दो सतक कर
 सहर से,

यहाँ उसको जय मिलेगी तो मिलेगी
या मिलेगी तब
असंशय
तुम तरी को छोड़ दो
यदती सहर पर ।”

असंशय होकर तरी को सहरो के थपेडो में छोड़ने का सकल्प कुठित व्यक्तित्व का, बीनी झाड़ियों का व्यक्ति नहीं कर सकता। यह तो वही कर सकता है जो यह अनुभव कर सके कि उसने सदा सागर को देना ही जाना है और सागर उससे ढीठ याचक-सा सदा माँगता ही रहा है, जिसने अन्तहीन, अथाह, अकूल सागर का थपेडा अपनी छाती पर समुद्र सहा है और जो यह मानता है कि तरी सागर की सुता और पवन की सगिनी है एव जो इसके लिए तैयार है कि या तो जय मिलेगी या तब। वही इस आनन्द एव उल्लास को अनुभव कर सकता है जो अपनी सटो से सनसनाते पवन को छनते हुए अनुभव करता है। अज्ञेय का व्यक्तित्व ऐसा ही है। वह कुठित, दमित और अवृत्त व्यक्तित्व ही है। उसने अपने आप अपनी सारी सभावनाओं को अपने व्यक्तित्व में प्रस्फुटित, पल्लवित, विकसित एव फलीभूत किया है। वह भी समवाय की कीमत पर नहीं उसे अपना दान देते हुए। आदान उसने स्वीकार किया है, सबका जहाँ से भी उसे अनुभूति की पूजी मिली है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता अज्ञेय के लिए सर्वोपरि महत्ता रखती है, क्योंकि वही उस समाज की रचना कर सकती है, जो सही अर्थों में एक महान् समाज होगा। उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता की बातें करने में यदि किसी को अह की ध्वनि मिलती हो, तो उससे अज्ञेय को चिन्ता भी नहीं है। क्योंकि अपनी सच्ची अनुभूति को नकार कर दूसरा की धारणा की परवाह करना उन्हें स्वीकार नहीं है और न स्वतन्त्र झाड़ियों की कीमत चुकाकर साँचे ढले समाज की प्रतिष्ठा में उन्हें अपने को लगाना है। वे तो स्पष्ट कहते हैं “अच्छी कुठा रहित झाड़ी, साँचे ढले समाज से।” इसमें कोई अह की बात नहीं है और न समाज की चोट पहुँचाने की। बल्कि उस समाज की ओर एक सवेत अवश्य है, जो कुठा-रहित झाड़ियों के योग से बनता है और जो साँचे ढले समाज से हज़ारगुना थोप होता है।

अज्ञेय तो उस बिन्दु पर अपने को पहुँचाने के लिए बेचैन हैं। जहाँ पर मन यज्ञ का दुर्दान्त घोड़ा नहीं है, जिसे लौटा कर वे समर्थ जयी कहलायें। जहाँ पर अह भी—जो अजाना, और उपेक्षावश अलक्षित हो अनाहत रह गया हो—नहीं है। जहाँ अन्तिम निजत्व भी नहीं हैं “जिसे छुटाकर औदार्य का सन्तोष हो।”

वे तो स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं

‘जितनी स्फीति दृष्टता मेरी भसकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ।
जितना हृषाकार-सारमय बीज रहा हूँ
रेत हूँ।
फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिष्ठा
मेरे अनजाने, अन-पहचाने
धपने ही मनमाने
अकुर उपजाती है—
यस उतना मैं खेन हूँ।’

इसके बाद अज्ञेय के अह को रोककर दूसरे को क्या कुछ भी कहने को बच जाता है? वे तो अपन अह की धरम परिणति उस अन्त सलिला के रूप में करते हैं जो रेत के विस्तार में खो गई बिन्दु जो भी पान्थ प्यासा वहाँ जाता है, जरा-सी मिट्टी उलट कर स्वल्पायास से ही अपनी प्यास शान्त कर जाता है—

“रेत का विस्तार
मही जिसमें खी गयी
कुरा धार।
भरा मेरे आँसुओं का भार
—मेरा दुःख पन,
+ + +
यों अजाना पान्थ
जो भी बलान्त आया, हरा लेकर आस,
स्वल्पायास से ही शान्त

अपनी प्यास

इससे बर गया

लौंच सम्बी सांस

पार उतर गया ।^{११}

(ग) व्यष्टि एवं समष्टि के सन्दर्भ में अज्ञेय की वैयक्तिकता का द्वन्द्व एवं समाहार

अज्ञेय के व्यक्तित्व पर सबसे बड़ा आरोप उन्हें समाज विरोधी, व्यक्ति-निष्ठ एवं आत्मनिष्ठ बह्वर लगाया जाता है। अज्ञेय के काव्य में व्यष्टि एवं समष्टि के इस तनाव एवं उसके समाहार की स्थिति के अन्वेषण के पूर्व उस युग की मन स्थिति को थोड़ी गहराई से समझने का प्रयास करना होगा, जिसमें अज्ञेय के चिन्तन एवं अनुभूति अपना रूप ग्रहण कर रहे थे। सन् ३० से लेकर आज तक का विश्व राजनीतिक दृष्टि से दो विशाल खेमों में बँटा हुआ है। एक खेमा समाज के नाम पर व्यक्ति को दबाकर उसकी सारी अस्मिता को समाप्त कर देता है। अपने को साम्यवादी कहनेवाला यह शिविर अब तक के ५० वर्षों के इतिहास में व्यक्ति के प्रति बहुत ही क्रूर रहा है। व्यक्ति की सारी मौलिक स्वतन्त्रताओं, जमके चिन्तन की दिशाएँ इन देशों में इस प्रकार हट्ट कर दी गई हैं कि मनुष्य एवं मन्त्र के पुर्जे का पर्याय बन गया है। प्राथमिक स्तर की पार्ष्व सुविधाओं को प्राप्त करने का इतना बड़ा मूल्य मनुष्यता को बुकाना पड़ा है, जिसका कोई भी औचित्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। साम्यवादी देशों के विकास एवं निर्माण की प्रक्रिया में कभी-कभी सामान्य से सामान्य सशय के आधार पर अनगिनत व्यक्तियों को मौत के घाट उतार देना कोई बड़ी बात नहीं मानी जाती रही। विचार एवं चिन्तन के घरातल पर इतना फौलादी नियंत्रण इन साम्यवादी देशों का सहज सस्कार बनता जा रहा है। मामूली असहमति के स्वर को उठानेवाले सोल्झेनित्सिन, बोरिस पास्तरनाक एवं स्वेतलाना को हर प्रकार का अपमान सहन करने के लिए विवश किया गया। यह सच है कि इस घोर रेजिमेण्टेशन के माध्यम से साम्यवादी देशों में भौतिक गरीबी की समस्या को हल किया है, परन्तु एक सृजनशील कलाकार के लिए इन स्वतन्त्रताओं का अपहरण कोई साधारण बातना नहीं है।

उनकी दृष्टि को स्पष्ट करता है।

इस कविता के कुछ अंशों के आधार पर अज्ञेय की व्यक्तिवादिता का बहुत डिकोरा पीटा गया है, किन्तु कहाँ है द्वीप का दम्भ ? वह तो स्वीकार करता है कि उसके सारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, संकतकूल एवं सारी गोलाइयाँ उस नदी के द्वारा गड़ी हुई हैं। वह तो नदी को अपना स्थिर समर्पण देता है, माँ मानता है, उसमें माँजने और सस्कार देने की प्रार्थना करता है, किन्तु द्वीप यह कहने में संकोच नहीं करता

‘यदि ऐसा कभी हो

तुम्हारे आह्लाद से या झूठों के निस्सी स्वैराचार से—

अतिथार से—तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा परधराता उठे,

यह श्रोतस्थितो ही कर्मनाशा, कीर्तिनाशा, और

काल प्रवाहिनी बन जाय

तो हमें स्वीकार है वह भी।

उसी में रेत होकर

फिर छनेगे हम, जमने हम, कहीं फिर पैर टेकेंगे।

कहीं फिर भी सदा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।

मात । उसे फिर सस्कार तुम देना”^१

यदि द्वीप नदी के स्वैराचार को खुली आँखों से देख घुरा हो, अनुभव कर चुका हो, तो उसको व्यक्त करने में हिचक या संकोच अज्ञेय में नहीं हो सकती। अज्ञेय व्यक्तित्वहीन व्यक्ति की प्रतिष्ठा तो क्या उसे सहन भी नहीं कर सकते। वह तो यह मान कर चलते हैं कि व्यक्ति अपनी पूर्णता ही में समष्टि को भी वह आभा और सम्पूर्णता प्रदान करता है, जिससे वह श्लाघनीय बनता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि “व्यक्ति और समाज की टकराहट से जो व्यक्तित्व बनता है वह समाज का आलोचक हो सकता है, विरोधी नहीं।”^२

अज्ञेय के लिए व्यक्ति वह दीप है, जो अवेला होते ऋण भी स्नेह और गर्म से भरा हुआ है और अपनी सार्वकता अपने को पक्ति के लिए दान दे देने में ही मानता है—

१ “नदी के द्वीप”—हरी घास पर क्षण भर—अज्ञेय।

२ “अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी,

“यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व भरा, मदमाता, पर
इसको भी पंखित को दे दो”^३

अज्ञेय ने बार-बार अपने को समवाय के लिए अर्पित किया है, किन्तु अपने होने को, अपने विकास को झुठलाकर नहीं। जब सतह पर धूमने वाले आलोचक उनकी कविता में अहवाद और व्यक्तिवादिता के तत्वों की गंती और कुल्हाड़ी से-लेकर खोजते थे, उस समय अज्ञेय ने अपने व्यक्ति के लिए लिखा था :

“दूर दूर दूर.....मैं वहाँ हूँ

+ + +

रिक्शा में अपना प्रतिरूप सादे चाँचता है,

जो भी, जहाँ भी पिसता है

पर हारता नहीं, न मरता है—

पीड़ित, धमरत मानव

अविज्ञित, दुर्जय मानव

कमकर, धमकर, शिल्पी, स्रष्टा—

उसको मैं कया हूँ।”^३

इन पक्तियों में अज्ञेय ने सोच-सोच कर विभिन्न क्षेत्रों में धम करनेवालों की सूची नहीं बनाई है, जैसा सतह-जीवी आलोचक कह सकता है। यह तो उन पीड़ारत, सघर्षशील एवं सवेदनशील इकाइयों से सीधा साक्षात्कार है, कुछ वैसा ही जैसा निराला का पत्थर तोड़ती हुई श्रमिक-बालिका ने हुआ था। कवि का अनुभूति के स्तर पर इस प्रकार विभिन्न मानव-समूहों से एकात्म हो सकना ही उसकी सृजनात्मक क्षमता का प्रमाण है। ऐसा ही हमें “असाध्य बीणा” में भी देखने को मिलता है। कवि अनुभव के इन अनगिन व्यापारों में इन सघर्ष-शील मानव इकाइयों से सीधा जुड़ता है। उनके दुःख-दर्द को एक समर्थ इकाई के रूप में अपनाता है, यथासाध्य बाँटता है और गहराई से अपनाता है। यही इलियट की उस पक्ति की सार्यन्ता है “There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates The greater the separation the greater the artist” उसी कविता में अज्ञेय का यह कथन गहरा अर्थ रखता है कि मैं सेतु हूँ, किन्तु शून्य से शून्य के बीच का सतरंगी सेतु नहीं वरन् वह सेतु हूँ जो मानव को मानव से मिलता है :

"जो हृदय से हृदय को
 धम की गिला से धम की शिला को
 कल्पना के पंख हैं
 कल्पना के पंख को
 विवेक को किरण से विवेक को किरण को
 अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है,
 यह जो मिट्टी गोड़ता है,
 कौड़ी लाता है और गेहूँ खिलाता है
 उसकी मैं साधना हूँ ।
 यह जो मिट्टी फोड़ता है
 मटिया में रहता है और महसूस को बनाता है
 उसकी मैं आस्था हूँ ।
 यह जो कज्जल बुता खानों में उतरता है
 पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है,
 यह जो नंगे बदन, दम साथे, पानी में उतरता है
 और बाजार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है,
 यह जो कलम पिसता है,
 चाकरी करता है, पर सरकार को घुसाता है
 उसकी मैं ध्याना हूँ ।
 यह जो कचरा ढोता है,
 यह जो भ्रूली लिए फिरता है और बेघरा धूरे पर सोता है,
 यह जो गदरे हाँकता है,
 यह जो तनूवर भोक्तृता है,
 यह जो कीचड़ उलीचती है,
 यह जो मनियार सजाती है,
 यह जो बन्धे पर चूटियों की पीटलो लिए गली-गली भाँकती है,
 यह जो दूसरों का उतारन फीँचती है,
 यह जो रद्दी बटोरता है,
 यह जो पापड़ बेतता है, खोड़ी सपेटता है बकं घूटता है,
 पोखनी फूँकता है, बन्दई मत्ताता है, रेडो ठेलता है,
 चींव लपेटा है, बासन माँजता है, हँटे उद्घातता है,
 रुई धुनता है, मारा सानता है लटिया धुनता है,

भग्न से सड़क सौंचता है,
जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजग्न प्रवाहिनी नदी जिसके
नीचे से बहती है ।^१

इन पक्तियों पर कोई टिप्पणी घ्ययं है । ये अज्ञेय की व्यष्टि-समष्टि की दृष्टि को पूरी सफाई से रखती हैं ।

अज्ञेय की व्यष्टि दृष्टि को निम्न पक्तियों में एक नये सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है—

“सभी जगह जो मूल्यवान है, सकुचा रहता है ;
अदृश्य, सीपी के मोती-सा
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे ।”^२

व्यष्टि की सारी मूल्यवत्ता सीपी के मोती-सी सकुची रहती है, परन्तु उसकी स्थिति तो समाज रूपी सागर में ही है । वही सीपी में मोती पकता है । अज्ञेय का व्यक्ति इतना उन्मुक्त है, इतना स्वतन्त्र है, इतना सम्पूर्णता में खोया हुआ है कि उसकी आनन्द-साधना की राहें भी अनोखी प्रतीत होती हैं । निम्न पक्तियों में उस व्यष्टि के उन्माद का एक मनोरम चित्रण देखा जा सकता है :

“सूँघ ली है सौंभ भर-भर
गन्ध मैंने इस निरन्तर
धुले जाते क्षितिज के उल्लास की,
ला गया हूँ नदी तट की
सहरती बिछलन जिसे सी बार
घो घो कर गई है अजली बातास की,
पी गया हूँ अधिक कुछ मैं
स्निग्ध सहलाती हुई सी
धूप यह हेमन्त की,
आज मुझको चढ़ गई है

१. “इन्द्रधनु रौंदि हुए ये”—अज्ञेय ।

२ “अरी ओ कदना प्रणामय”—अज्ञेय, पृ० ३६ ।

यह अथाह अकूल अपलक
नीलिमा आकाश की ।”^१

प्रकृति का यह नशा अज्ञेय का मुक्त व्यक्तित्व ही अनुभव कर सकता था। यह कोई मात्र उक्ति को भगिमा या चमत्कार नहीं है। सचमुच व्यक्तित्व की उन्मुक्तता एवं प्रकृति में तन्मयता की यह स्थिति सम्भव है, किन्तु यह व्यक्ति की एक विशेष मन स्थिति में ही उपलब्ध हो सकती है।

व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध की एक मार्मिक स्थिति इन पक्तियों में ध्वनित है :

“कहा सागर ने : खुप रही ।
मैं अपनी अबाधता जैसे
सहता हूँ, अपनी मर्यादा
तुम सहो
जिसे बाँध तुम नहीं सकते
उसमें अलिप्त मन
बहो ।”^२

समष्टि की अबाधता एवं व्यष्टि की मर्यादा दोनों ही दोनों के सत्य हैं। परन्तु व्यष्टि यदि अपनी मर्यादा को सहते हुए समष्टि में अलिप्त मन बह सकता है तो फिर सगट कहाँ ? उसी क्रम में आगे अज्ञेय ने व्यष्टि के उन्मेष एवं सत्य-ग्रहण की क्षमताओं की ओर संकेत करते हुए कहा है

“मौन भी अभिव्यंजना है :
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो ।”^३

और आगे एक कटु सच्चाई :

“तुम नहीं व्याप सकते ; तुम में जो व्यापा है
उसी को निबाहो ।”^४

इससे अधिक सच्ची स्थिति की अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है ? व्यष्टि वह

१. “उन्मत्त”—अरी ओ करुणा प्रभामय—अज्ञेय, पृ० ६० ।

२. “जितना तुम्हारा सच है”—इन्द्रधनु रौंदे हुए थे—अज्ञेय, पृ० १४ ।

३. वही ।

४. “जितना तुम्हारा सच है”—इन्द्रधनु रौंदे हुए थे—अज्ञेय, पृ० १४ ।

इकाई है, जो अपनी गीमाओ के भीतर समष्टि का जितना अंश आत्मसात् कर सके वही उसका सत्य है।

अज्ञेय खुले मन से स्वीकार करते हैं कि उनकी व्यष्टि के रूढ़ जीवन की कुटी की बिड़कियाँ सदा समष्टि की ओर खुली रहती हैं। वही में उन्हें हँसी मिली है, धैर्य मिला है, दया मिली है। उन्हें धरावर एक सूत्र मिलता रहा जो दूसरों को उनसे जोड़ता रहा, व्यक्ति की "इक्की व्यथा के बीज को लोक-मानस की सुविस्तृत भूमि में पनपा सका।" उन्हीं के शब्दों में

तुम दया हो,
जो मुझे बिछि ने न दी हो,
किन्तु मुझको दूसरों से बाँधती है
जो कि मेरी हो तरह इन्सान हैं।
और जिनसे न भी मेरी मिले,
जिनको किन्तु मेरी चेतना पहचानती है।
धैर्य हो तुम
जो नहीं प्रतिबिम्ब मेरे कर्म के धुंधले मुकुर में पा सका,
किन्तु जो सघर्ष रक्त मेरे प्रतिम था, मनुज का,
अनकहा पर एक घमनी में बहा
सन्देश मुझ तक ला सका,
व्यक्ति की इक्की व्यथा के बीज को
जो लोक-मानस की सुविस्तृत भूमि में
पनपा सका।

अज्ञेय अपने से इतर इन्सानों से बँधे हुए हैं, सघर्षरत मनुज के रक्त को अपनी घमनी में बहता हुआ महसूस करते हैं।

अपन से इतर को दिया गया अज्ञेय का प्यार इतना सहज है, इतना निस्पृह है कि उन्हें सहज ही मानव प्रेमी या मनुष्य का शुभ चिन्तक कहा जा सकता है। युग के दर्द को अपन में समेटे हुए उन्होंने दूसरों को अपना प्यार ही दिया है सारे सघर्षों को अपने व्यक्तित्व में शोषते हुए आशीर्वाद ही लुटाया है। अन्धकार का पान करके प्रवाण फैलाया है, कँटीली राहों पर चल कर दूसरों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। उन्हीं के शब्दों में

‘जियो उस प्यार में
जो मैंने तुम्हें दिया है,
उस दुःख में नहीं जिसे

बेभिम्भक मैंने बिधा है ।
 उस गान में जिधो
 जो मैंने तुम्हे गुनाया है,
 उस आह मे नहीं जिसे
 मैंने तुमसे दियाया है ।
 उस द्वार से गुजरो
 जो मैंने तुम्हारे लिए खोला है,
 उस अन्धकार से नहीं
 जितनी गहराई से
 बार-बार मैंने तुम्हारी रक्षा की
 भावना से ढटोला है ।
 वह छान तुम्हारा घर हो
 जिसे मैं अतीसों से चुनता हूँ, चुनूँगा,
 ये काँटे गोखरू तो मेरे हूँ
 जिन्हें मैं राह से चुनता हूँ, चुनूँगा ।

+ + +

सागर के किनारे तक
 तुम्हें पहुँचाने का
 उदार उद्यम ही मेरा ही :
 फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
 सोन-तरी हो तरुण सबेरा हो,
 वह सब, ओ मेरे बर्य ।
 तुम्हारा ही, तुम्हारा ही । तुम्हारा ही ।^१

सारे काँटों और गोखरू को अपनाते हुए दूसरी को राह देनेवाला, सागर के किनारे पहुँचा कर दूसरी को लहर, तारा, सोनतरी और तरुण सबेरा अर्पित करनेवाला कवि किस प्रकार और क्यों इतने विराट् आक्रोशों और आरोपों का शिकार बना, सहज ही समझ में नहीं आता ।

शायद कवि का यह बार-बार का उद्धोष ही आलोचक को चलता है । सामर्थ्य की इस ऊँचाई पर बैठ कर आत्मदान करनेवाले की मुद्रा ही ईर्ष्या उत्पन्न करती है । शायद आत्मदान भूक न होकर इतना मुखर है कि दाता का व्यक्तित्व आक्रान्त करता है । ओ हो, अज्ञेय के आत्मदान की बार-बार

अभिव्यक्ति वही-न-वही अवश्य एव प्रतिब्रिया पैदा करती है। परन्तु यह तो स्वयं प्रतिब्रिया भी हो सकती है, उन निरन्तर समाये गये आरोपों की जो उन्हें व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, अहवादी और समाज-विरोधी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। शायद आरोपों की सड़ी और अज्ञेय की अपने आत्म-विसर्जन एवं आत्मदान को अभिव्यक्ति या दोनों असहज स्थिति या निर्माण करने में सक्षम हुई हैं। पाठन को इन दोनों सन्दर्भों से परिचित होते हुए ही वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करना होगा और तब इतना तो स्पष्ट रूप से मानना होगा कि अज्ञेय मानववादी है, मानवतावादी नहीं। एक-एक सस्पर्श एवं सपर्क में आई हुई संवेदनशील इकाइयों को अपनी सहानुभूति और सहयोग देने में विश्वास करनेवाले हैं, केवल 'मानवता', 'समाज' एवं 'जनता' जैसे शब्दों से घेरेवाले नहीं। यह तथ्य उनकी कविताओं से ही नहीं उनके जीवन से भी प्रमाणित है। इसीलिए उनकी यह उक्ति पूरी सौर पर सच लगती है।

‘उतरो थोड़ा और

साँस से गहरी

अपने उड़नछटोले की सिड़की को लोतो

और पैर रखो मिट्टी पर •

सदा मिलेगा

वहाँ सामने तुमको

अनपेक्षित प्रतिष्प तुम्हारा

गर, जिसकी अनसिप आँखों में भारायण की व्याप भरि है।’^१

गर को पहचनवाने की वैचनी के पीछे एक और ईमानदार स्थिति है। यह युग, जिसमें अज्ञेय रचनारत है, नारो और वादो का युग है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जीवित मनुष्य जिनके लिए पूर्ण उपेक्षा की धीज है, वही मनुष्यता पर सबसे बड़ा प्रवचन करता है। इसलिए इस झूठ का पर्दाफाश करने के लिए भी अज्ञेय के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे ऊँचे आकाश में हवाई उड़ान करनेवालों में थोड़ा घरती पर उतर कर मिट्टी का स्पर्श करने के लिए आग्रह करें। उन्हीं के शब्दों में—

‘लगते ही आघात ठोस घरती का

घमनी में भारी हो आया मानव-रक्त और कानों में

१ ‘हवाई यात्रा ऊँची उड़ान’—इन्द्रधनु रॉकेट हुए थे—अज्ञेय, पृ० ६२।

सूजा सन्नाटा संसृति का ।'^१

और छोड़ा और उतर कर गहरी सास लेकर जब अपने उदमघटोले की छिड़की खोल दी जाये और मिट्टी पर पैर रखवा जाये तभी वह नर दिखाई पड़ेगा, जिसकी अनक्षिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है। नर को छोटकर नगता की बात इस युग में इतनी अधिक हुई है कि इस सन्दर्भ में बार-बार जीवित मानव पर अज्ञेय की रखी जानेवाली उमसी बहुत स्वाभाविक लगती है।

यह सही है कि अज्ञेय का व्यक्तित्व जहाँ समवाय के प्रति समर्पित हो जाने के लिए बेचैन है, वही यह खतरनाक से खतरनाक ऊँचाइयों पर पहुँचने के लिए आकुल-व्याकुल है। शिखर पर पहुँचना उसकी एक दुर्निवार प्रवृत्ति है। यह जानते हुए भी कि शिखर पर पहुँचना मृत्यु का साक्षात्कार करना है, शिखर ही मृत्यु है शायद, अज्ञेय का बेरोक व्यक्तित्व शिखर पर पहुँचेगा ही

‘मूय से निकल कर
घनी यन्त्राजियों का आश्रय छोड़कर
गजराज
पर्वत की ओर दौड़ा है
पर्वत चढ़ेगा।
कोई प्रयोजन नहीं है पर्वत पर
पर
गजराज पर्वत चढ़ेगा।
विद्युत्कृता हुआ मूय
बिद्युत्कृता हुआ मुड़ता हुआ
जान गया है कि गजराज
मृत्यु की ओर जा रहा है
शिखर की ओर दौड़ने की प्रेरणा
मृत्यु की पुकार है।
उधर ही दुर्निवार
गजराज चढ़ेगा ।’^२

अज्ञेय के व्यक्तित्व का एक आयास यह है, जहाँ समर्पण की प्रवृत्ति भी शायद पीछे छूट जाती है खतरनाक शिखर, या ज्वार भाटों में झूला झुलाने

१ ‘हवाई यात्रा ऊँची उड़ान’—इन्द्रधनु रौंदे हुए थे—अज्ञेय, पृ० ६२।

२ ‘पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ’—अज्ञेय, पृ० ७३।

कि व्यष्टि की यह आनन्द-साधना समष्टि की उपेक्षा है। पर वस्तुतः व्यष्टि की उत्कृष्टतम उपलब्धियों को समष्टि के साथ एकात्मकता ही मूल्यवान बना है। अज्ञेय तो अपनी व्यष्टि की नाव को लेकर समष्टि के सागर में बूढ़ बाले हैं, चाहे परिणाम कुछ भी हो। सागर उन्हें आतुरित नहीं करता

“जलो खोल दो नाव
छुपचाप जिवर सहतो है
सहने दो।
महीं, मुझे सागर से
कभी डर नहीं लगा।
महीं मुझमें जीवियों का
आतंक नहीं लगा।

+ + +

रोको मत
तुम्हीं बवार बम पास भरो,
तुम्हीं पहुँचे कस्बे-बाओ,
सड़ों में छन-अग-अग सिहरो,
और तुम्हीं धार पर सतार दो, जलो
मुझे सारा सागर सहने दो।”^१

सारा सागर सहने का सकल्य जिस व्यक्तित्व में है उसे सङ्कुचित व्यक्तित्व का कैसे कहा जाये ?

अज्ञेय के व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों के विभिन्न स्तरों को समझने लिए उपर्युक्त उद्धरण ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि उनका व्यक्तित्व प्रतिदिन विकासशील है। फिर भी उनकी वैयक्तिकता का एक पक्ष इस कोण से उजा होता है।

जो लोग अज्ञेय के जीवन में निकटता से परिचित हैं उनके साक्ष्य अथवा अज्ञेय के साहित्य के गहरे अनुशीलन से यह बात पूरी तौर पर प्रमाणित है कि अज्ञेय का व्यक्तित्व एक समर्पित व्यक्तित्व है। किन्तु उनका समर्पण जिस समवाय के प्रति है वह कोई काल्पनिक एवं शाब्दिक समवाय नहीं है। वह तो उनका जीवित पडोस है, परिवित मानव संप्रदाय है। ईसामसी की उक्ति ‘पडोसी को प्यार करो’ अज्ञेय के मानस में गहरे उतरी हुई।

उनका सस्कार बन गई है। कभी-कभी अज्ञेय के शालीन एवं सुसंस्कृत व्यक्तित्व के कारण भी उन्हें समाज विरोधी एवं अपने में केन्द्रित समझा जाता रहा है। शायद इसी कारण सबसे अधिक। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अज्ञेय की संस्कृति निश्चय ही एक विशिष्ट संस्कृति है। वे किसी भी स्तर पर कभी भी बलगर नहीं हो सकते। मानवीय चेतना के विकास के क्रम में वे अपने को उस बिन्दु पर पहुँचाने में समर्थ हो सके हैं, जहाँ सारी अभिव्यक्तियाँ इतनी शालीन एवं गरिमापूर्ण हो जाये कि संपर्क में आने वाला व्यक्ति भी उस शालीनता एवं गरिमा से अपने को अपने से ऊँचा उठाने में समर्थ हो सके। यह उपनयन उनकी साधना, उनके संस्कार के मणि-काचन संयोग से संभव हो सकी है। कभी-कभी व्यक्ति उस शालीनता की कान्ति से आतंकित हो उठता है, अलग दूर हट जाता है। परन्तु जो लोग अज्ञेय के साहित्यिक व्यक्तित्व से उतने परिचित नहीं हैं, इसीलिये आक्रान्त भी नहीं हैं, वे लोग अपने दुःख और दर्द को लेकर, अपनी निजी समस्याओं और उलझनों को लेकर उनके पास बेहिचक जाते रहे हैं, एवं उनसे एक मानवीय स्नेह, सहकार एवं सहायता का ठोस अंश प्राप्त करते रहे हैं। अतः उनकी दृष्टि जो उनके वाक्य में ध्वनित है, मात्र एक बौद्धिक उद्भावना नहीं है, बल्कि जीवन में निरन्तर घटित होते वाले वैयक्तिक अनुभवों से निःसृत अनुभूति है।

व्यक्ति एवं समाज के इस अन्तःसम्बन्ध को वे राजनीतिक प्रचारवाजी के घरातल से बहुत ऊँचे उठाकर देखते हैं। जहाँ भी उत्पीड़न है, दमन है, शोषण है, संहार है, उनका व्यक्ति वहाँ व्यथित हो उठता है, आक्रुष्ट हो उठता है, घुनीती अनुभव करता है तथा एक कृत-संकल्प भाव से उठ खड़ा होता है। फिर चाहे वह अतिचार तथाकथित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वाले खेमे का हो अथवा अपने को साम्यवादी कहनेवाला के द्वारा। अज्ञेय की इन पंक्तियों पर ध्यान देने वालों को उन्हें साम्यवाद विरोधी कहने में कठिनाई हो सकती है।

‘दूरी मत, शोषक भैया,

पी लो।

मेरा रक्त ताजा है

मीठा है

दूध है।

पी लो, शोषक भैया,

दूरी मत।

। शायद तुम्हें पचे नहीं—

अपना मेढा तुम देखो, मेरा क्या दोष है ।
मेरा रक्त मोठा तो है, पर पतला या हल्का भी हो
इसका जिम्मा मैं तो नहीं ले सकता,
शोषक भैया !
जैसे सागर की सहर
सुन्दर हो यह तो ठीक,
पर यह आरबासन तो नहीं दे सकती कि
किनारे को सील नहीं
लेगी ?

+ + +

वह मैं नहीं, वह तो तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है !
जो तुम्हारा काल है”

यह विनारे को लील जानेवाली लहर वही शोषित जन है, जिसका ढिंडोरा पीटनेवाला अजेय को व्यक्तिवादी एव अपने को जनवादी कहते थकता नहीं। परन्तु अजेय के लिए यह चिन्तन एव विचार का प्रश्न नहीं था, उनकी गहरी अनुभूतिमाँ इस प्रश्न से जुड़ी हुई थी। उनकी वैयक्तिकता की एक प्रमुख धारा ही इस सम्बन्ध में उलझी हुई थी। हिरोशिमा में घूमते हुए अणुबम से वाष्पीभूत हो जाने वाले मानव की कल्पना उनको उद्विग्न बना देती है। पत्थर पर बनी पूरी मानवाकार रेखायें या चिह्न उन्हें यह अहसास देते हैं कि पत्थर पर ही जैसे कोई इन्सान वाष्पीभूत हो गया है। यह अनुभूति उनके ही शब्दों में देखी एव पुनः अनुभूत की जा सकती है :

“छायायें मानव जन की
विशा हीन
सब ओर पर्वी-वह सूरज
नहीं उगा था पुरख में, वह
बरसा सहसा
बीचों-बीच नगर के :
काल-सूर्य के रथ के
पहियों के ज्यों अरे दूट कर
खिलर गये हों

और फिर भी निर्वन्ध मुक्त रहता है, मुक्त करता है—

मुक्त, मुक्त, मुक्त करता है ।”^१

यही है आदर्श । समष्टि जो व्यष्टि को घेरे, घरे, सहे, धारण करे, भरे, लहरो से सहलाये, दुलराये, झुमाये-झुलाये, और फिर भी निर्वन्ध, मुक्त रहे, मुक्त करे । धरती पर इसी सबंध की अवतारणा के लिए अज्ञेय का अन्तर आवृत है । इसी भूमि पर वे विचरण करना चाहते हैं ।

व्यष्टि भी समष्टि के सागर को क्या नहीं देता है ?

“हमने क्या सागर को इतना कुछ नहीं दिया ?

भीर, सौंभ, सूरज-ज्वाले के उदय-अस्त

शुरू तारे की धिर और स्वाती की कैंठो जगमगाहट

हूर का बिजली की चदरोली चाँदनी,

उमस, उदासियाँ धुन्ध,

लहरों में से सनसनाती जाती आँधों

काजल-पुसी रात में नाथ के साथ-साथ

सारे ससार की जगमगाहट :

यह सब क्या हमने नहीं दिया ?

लम्बो यात्रा में गाँव-घर की यादें,

सरसो का फूलना,

हिरनों की कूद, छिन चरल, छिन अथर में टँकी-सी,

घीलों की उड़ान, चिरींझो-कीघों की बिठाइयाँ,

सारसो की ध्यान-मुद्रा, बदलाये ताल के सीने पर अँकी-सी,

घन-सुलसी की तीली गन्ध

साजे लीये आँगनी में गोपठों पर

देर तक गरमाये गये दूध की घुईसी घास,

जेठ की गोधूली की धुटन में कोयल की कूक,

मेड़ों पर चली जाती छायाएँ,

लेनो से लोटती हुई भटकी हुई तानें

गोचर में सजनों की दौड़,

पोपन तले छोटे दिवले की

मनोली सी ही डरी-सहमी जो—

ये सब भी क्या हमने नहीं दी ?

जो भी पाया, दिया :

देला, दिया :

आशाएँ, प्यार, अहंकार, विनतियाँ, बड़बोलिएँ,

ईर्ष्याएँ, दर्द, भूलें, अशुलाहटें,

सभी तो दिये ।”^१

व्यष्टि का समष्टि को यह दान छोटा नहीं है । सबसे अधिक आश्चर्यचकित करती है अज्ञेय के व्यक्तित्व की, उनकी व्यष्टि की विराट् अनुभूतियों की पूंजी । कितने कवियों को ‘ताजे लीपे आँगनो मे गोपठों पर देर तक गरमाये हुए दूध की घुईली बास’ का अनुभव होगा ? अज्ञेय का विजली की चदरीली चाँदनी से भी उतना ही परिचय है, जितनी गहरी अनुभूति उन्हें काजल-मुत्ती रात मे नाव के साथ-साथ सारे ससार की डगमगाहट की है । ‘गोचर’ मे खजनों की दौड और पोपल-तले छोटे दिवले की मनोती-सी ही डरी—सहमी लौ सभी उनकी अनुभूतियों की पूंजी है और यह सारी पूंजी समष्टि के सागर को अर्पित है । फिर भी सागर से माँगते क्या हैं ?

“यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,

एहीं मुझे तोड़ दो, सागर

कहीं मुझे तोड़ दो ।”^२

फारमूलो मे बँधे लोग इस दृष्टि को, इस वैयक्तिक धरातल को शायद नहीं पा सकते ।

व्यक्ति और समाज का संबंध जिनके लिए केवल चिन्तन या सद्-भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र का ही बहाना है, वे क्या जानें कि व्यक्ति और व्यक्ति से निरंतर अपने अन्तरतम को जोड़नेवाले की अनुभूतियाँ कैसी होती है ? लाखों-करोड़ों की, जनता की, मानवता की बात-बात पर दुहाई देनेवाले क्या जानें कि ऐसे भी समर्थ व्यक्ति होते हैं, जो अपनी सामर्थ्य का केवल यही उपयोग करते हैं कि उनके व्यक्तित्व से निक्लने वाले धागे कितनी-कितनी को बाँधते है । केवल सहानुभूति नहीं बिखेरते, अपने को सही

१. “सागर-मुद्रा—६” अज्ञेय, पृष्ठ ७२-७३ ।

२. “सागर-मुद्रा—८” अज्ञेय, पृ० ७७ ।

अर्थों में दूसरों से जोड़ लेते हैं। प्यार करते हैं। उन्हें यह सख्त उतना ही आत्मीय एवं वैयक्तिक हो जाता है, जितना किसी के लिए उसके प्रणय का सख्त हुआ करता है। हिन्दी काव्य के लिए अज्ञेय की वैयक्तिकता का यह धरातल एक महान् उपलब्धि है, उन्हीं की इन पक्तियों के साथ अपने को अभिव्यक्त करना चाहूँगा

“हाँ, भाई

मह राह

मुझे मिलो यो,

कुदरे में जेती हो मुझे दिलाई

मैंने नापी धीरे, अपोर, सहज, डगमग, द्रुत धीरे—

गाज जहाँ है, वही वहाँ सरु सायी।

+

+

+

ये सम्मुख फूल बहे जाते हैं

पर क्या जाने वे किसके हैं ?

क्या जाने वह दूबा, तिरा,

या तट पर ही फूट डाल कर लौट गया ?

या क्या जाने ?—ये फूल स्वयं उसकी भस्मी के ही प्रतीक हैं ?

यह भी हो सक्ता है

कोई इस बेहरी पर ही बैठ रहे

जो धाये उन्हें असीसे,

जायें जो उन्हें धता दे के पहिचाने गलियारे

जो पार स्वयं वह कर थाया।”^१

सामने प्रवाह में बहने हुए फूल को देखकर उसे प्रवाह में छोड़ने जाने की विनता करना, उससे, अपने को जोड़ लेना, उसकी वेदना उदासी सङ्कट से अपनी अनुभूति को शराबोर कर लेना ही अज्ञेय का सस्वार बनता चला गया। यही है उनकी दृष्टि की अनुभूति जो समष्टि से अपने को पूरी तौर पर एकात्म कर लेती है तथा उनकी वैयक्तिकता को एक नया आयाम देती है। मैं डॉ० विद्यानिवास मिश्र से पूर्ण रूप में सहमत हूँ कि ‘वे विरोध वस्तुतः सघर्ष और असघर्ष में देखते हैं। ‘मैं’ और ‘हम’ में नहीं, ‘मैं’ और

‘हम’ की एजना और अनेकता में देखते हैं। अज्ञेय की दृष्टि में व्यष्टि का अभिमान विश्वजन की अर्चना में बाधक नहीं साधक है।”^१

(घ) नये कवि के सन्दर्भ में अज्ञेय की वैयक्तिकता

यों तो जब भी साहित्य में एक मोड़ आता है और कुछ नये मूल्यों, संस्कारों तथा रूपाकारों के साथ कोई नयी धारा प्रवाहित होती है, उसने साथ मिली बड़े साहित्यकार का नाम उसने प्रवर्तक के रूप में जुड़ जाता है। ऐसा गद्य के क्षेत्र में भी हुआ है और काव्य के भी। कभी-कभी तो इस बात की भी लेकर पर्याप्त विवाद होता रहा है कि अमुक काव्यधारा या प्रवर्तन अमुक कवि ने नहीं बल्कि अमुक ने किया है। छायावादी काव्यधारा के सन्दर्भ में निराला एवं प्रसाद के बीच आपस में तो कभी विवाद नहीं रहा, लेकिन उनके प्रशासकों के बीच यह विवाद काफी मनोरंजक रूप से और विस्तार से चलाया गया। किन्तु जिस स्तर पर और जिस रागात्मकता के साथ अज्ञेय का नाम प्रयोगशील और बाद में “नई कविता” से जुड़ा, ऐसा साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ही होता है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने ठीक ही लिखा है, “पर ध्यान से देखने पर यह लगेगा कि जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक बदनामी अपने लिए नई कविता के लिये ओढ़ी हो, ‘प्रतीक’ जैसे पत्र द्वारा इसके लिये सहृदयता की भूमिका तैयार करने में कमरतोड़ आर्थिक क्षति उठाई हो और चलत-खड़ी सभी प्रकार के लोगों से नाना प्रकार के रिश्ते जोन्कर नई कविता के लिये पथ निर्माण किया हो (कम से कम १९४५ से अब तक उसकी जीवन-यात्रा नई कविता की जीवन-यात्रा है), उसका इतिहास नई कविता मात्र का इतिहास है, इसलिये यह क्षेपक जोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। अब स्थिति यह है कि अज्ञेय को कोई नया कवि बहे म बहे उन्हें इसका हर्ष-विषाद नहीं है। उनकी कविता भी नई कविता मानी जानी जाय, उन्हें चिन्ता नहीं है, क्योंकि इन विगत सोलह-सत्रह वर्षों में वे नई कविता के साथ-साथ कुम्हार के चार पर चढ़े हैं, धूमे हैं, रंगों में पगे हैं, निर्बुध अग्नि में पगे हैं और पक्कर निकल आये हैं। यह सोलह-सत्रह वर्षों की अवधि जिस संघर्ष में बीती है, वह संघर्ष अपने लिये कम, नई कविता, या नई कविता ही क्यों, अपने उस विश्वास के लिये अधिक है, जो उन्होंने निरन्तर किया है।”^२

वस्तुतः “तारसप्तक” के प्रकाशन के समय अज्ञेय का जो लगाव कविता

की नई धारा के साथ 'तारसप्तक' के संपादक के रूप में प्रारम्भ हुआ, वह समय के साथ इतना गहरा होता चला गया कि अज्ञेय की वैयक्तिक अनुभूतियाँ उसका अविभाज्य अंग बनती चली गईं। किसी दौर की कविता या कवियों से उसके प्रवर्तक का ऐसा रागात्मक संबंध पहले कभी भी देखा नहीं गया है। कविता को प्रेयसी कहनेवाले कवियों की कमी साहित्य के इतिहास में नहीं, लेकिन अपने युग की काव्यधारा से सचमुच इस स्तर का सगाव अनुभूति के स्तर पर विरले ही देखने को मिलता है।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई युग प्रवर्तक कवि अपने द्वारा प्रवर्तित काव्य-धारा में अन्तर्निहित मूल्यों को परिभाषित करे, उसकी पृष्ठभूमि एवं परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन करे और उस नई काव्य धारा को लोक-मानस तक संप्रेषित करने का अधिक प्रयास करे। ऐसा पहले भी हुआ है। इस काम को पूरी निष्ठा एवं लगन से 'प्रसाद' और 'निराला' ने भी किया था किन्तु उस काव्य धारा के कवियों और कविताओं के साथ इस स्तर का रागात्मक संबंध हो जाय कि प्रवर्तक कवि की सृजनशीलता का एक बहुत बड़ा अंग उन कवियों से अपने रिश्ते को परिभाषित करने और रेखांकित करने में ही सगे, ऐसा अज्ञेय के साथ ही हुआ है। यह कहना स्थिति का अतिसरलीकरण होगा कि ऐसा उन्होंने अपने को प्रवर्तक रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये किया है। यह तो उनकी वैयक्तिकता का एक नया आयाम ही है जो नये कवियों और नई कविता के सदर्भ में लिखी गई उनकी कविताओं में व्यक्त होता है।

"तारसप्तक" की भूमिका में तो बात इतनी ही दिखलाई पड़ती है कि चूँकि अज्ञेय में संपादन और सकलनकर्ता की क्षमता है, इस नाते वे 'तारसप्तक' के संपादक के रूप में सामने आते हैं। किन्तु उसी भूमिका में यह भी स्पष्ट है कि यह अज्ञेय ही हैं, जिन्होंने इस स्थिति को रेखांकित किया है कि "काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।" अज्ञेय ने ही यह भी उद्घोषित किया है कि "समर्पित कविसभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।"^१ इस प्रारम्भिक पहचान से शुरू करके धीरे-धीरे अज्ञेय प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक बनते चले गये। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन तक पहुँचते-पहुँचते अज्ञेय स्पष्ट रूप से प्रयोग-

१ 'भूमिका' (तारसप्तक) पृ० १३।

२. 'भूमिका' (तारसप्तक) पृ० ११।

शील कविता के प्रवर्तक, संरक्षक और व्याख्याता बन जाते हैं। परम्परा से कवि का क्या संबंध हो इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, “परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं, जब तक वह उसे ठोक्-झाकर तोड़-भरोड़कर, देखकर आत्मसान् नहीं कर लेता, जब तक वह एक गहरा संस्कार नहीं बन जानी कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाय। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार-विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देनेवाली परंपरा कवि की परम्परा है, नहीं तो—यह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भंडार है जिससे अपरिचित भी रखा जा सकता है।”^१ इसी भूमिका में अज्ञेय ने प्रयोग का अमिप्राय समझाते हुए कहा है, प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।”^२ इसी भूमिका में अज्ञेय ने नई कविता में साधारणीकरण को नये ढंग से परिभाषित करते हुए लिखा है, यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है, पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं, और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे तथ्य और सत्य में—या कहें सौजिये वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य में—यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है, बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तदवत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती।”^३

इसी प्रकार अज्ञेय ने इसी भूमिका में प्रयोग का अर्थ, कविता की भाषा का स्वरूप आदि प्रासंगिक प्रश्नों पर अपने विचारों एवं मान्यताओं को स्पष्ट

१. ‘भूमिका’ (दूसरा सप्तक) पृ० ७।

२. ‘भूमिका’ (दूसरा सप्तक) पृ० ७।

३. “भूमिका” (दूसरा सप्तक) पृ० ६।

किया है और नई कविता के सूत्रधार या व्याख्याकार के रूप में उनकी स्थिति स्पष्ट दृष्टिगत होती है। परन्तु आगे चलकर तो नई कविता से उनका सम्बन्ध अत्यधिक रागात्मक हो जाता है। “नई कविता : एक सभाव्य भूमिका” में वे कहते हैं कि कोई भी सत्य समय-सापेक्ष ही होता है। बुद्ध, ईसा, गांधी सभी के सत्य कुछ ही दिनों में विवादित हो गये थे, तो फिर उन्हीं का सत्य चिरस्थायी क्यों हो ? उन्हें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं है। उनका तो हतना ही आग्रह है

“सत्य का सुरभि-भूत हमें मिल जाय

क्षण भर :

एक क्षण उसके आलोक से सजुक्त हो

विभोर हम हो सकें—

और हम जीना नहीं चाहते

हमारे पाये सत्य के मसीहा तो

हमारे मरते हो, बन्धु, आप बन जायेंगे।

दस वर्ष

दस वर्ष और

वह बहुत है।

हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं

आज के विविक्त, अद्वितीय इस क्षण को

पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें

उसकी विविक्त अद्वितीयता

आपकी, किम्वि को, क ल ग को

अपनी-सी पहचानवा सकें—

रसमय करके दिखा सकें—

शाश्वत हमारे लिये वही है।

अजर अमर है

चेदितव्य अक्षर है।

एक क्षण : क्षण में प्रवहमान

व्याप्त सम्पूर्णता।

इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो,

पिया था अगस्त्य ने।”

आगे चलकर उनके सतोप को ठेस भी लगती है, जब राजेन्द्र त्रिशोर जैसा नया कवि पूरी अवज्ञा के साथ यह घोषित करता है कि परवर्ती नयी कविता अज्ञेय की मुद्रापेक्षी नहीं है, उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र है और उसकी अवतारणा अज्ञेय के पथ से भिन्न एवं स्वतन्त्र पथ से हुई है। नये कवि और अज्ञेय के बीच का यह नया विवाद जहाँ कई अर्थों में बटुनों के लिए मनोरंजन का विषय बना, नई कविता के सच्चे पक्षधरों के लिये बड़ी गतिविधि एवं व्यथा का कारण बना। अज्ञेय के लिये तो यह विवाद इतना अधिक वैयक्तिक अनुभूतियों में ओत प्रोत है कि उसकी मधनना का सृज्य अनुमान दूर में किया ही नहीं जा सकता। वही वह नये कवि को अपने हृदय का सम्पूर्ण आशीर्वाद अर्पित करते हैं, अपने लिए पथ के कष्ट और संघर्षों का ध्यान करते हैं और उसके लिए प्रशस्त मार्ग देने का उद्घोष करने हैं, वही वह नये कवि को अपनी शक्ति पर गर्व न करके उपशमन की सलाह देते हैं, वही उस पर व्यंग्य करते हैं और कही उसकी प्रतारणा भी करते हैं। उन्हें यह स्वीकार्य नहीं है कि उनके द्वारा प्रशस्त किया हुआ पथ भटकन का शिकार हो। वे तो कविता में हृदय की गहन अनुभूतियों को ढालने का स्वप्न देखते रहे, फिर उन्हें यह कैसे सह्य हो सकता है कि अनुभव की भट्ठी में तपे हुए अन्तर्दृष्टि के कण-दो कण के स्थान पर झूठे नुस्खे, वाद, शक्ति एवं पराई उपलब्धि के प्रकाश की प्रतिष्ठा की जाय। उनका तो यह आग्रह रहा है कि हम जीवन की सच्ची अनुभूति को ही शब्दबद्ध करें। उस आशय को पहचानें जो हमारे हृदय में फूटता है, उससे साक्षात्कार करें, उस निनिमेष आँखों से देखें, चाहे उस क्रिया में हमारी आँखें ही क्यों न फूट जायें। हमारी अभिव्यक्ति सच्ची हो, चाहे उसके अर्थ-भार से तन कर भाषा की मिल्नी ही क्यों न फट जाय ? इसीलिए वे स्वयं से भी और नये कवि से भी यही प्रत्याशा रखते हैं कि अनुभूति के इस ताप से वे जीवन भर तपते-जलते रहें।

अज्ञेय तो ऐसे कवि रहे हैं जिन्होंने शब्द को सत्य में ही जोड़ने में विश्वास किया है। वे यह मानते हैं कि प्रत्येक कवि के समस्त मूल्यों की अवतारणा होती है, किन्तु जब-जब ऐसा होता है सदा शब्द नहीं मिलते। शब्द और मूल्य में एक दीवार-सी बनी रहती है। इसीलिए कवि की अनुभूति में जब इतनी विस्फोटक शक्ति आ जाती है कि वह शब्द और सत्य के बीच खड़ी इस दीवार को उड़ा दे, दोनों को एक कर दे, वही स्थिति अज्ञेय के लिए वांछित स्थिति है, उसी स्थिति को वे नये कवि के लिए भी वांछित मानते हैं। इसीलिए जब

वे देखते हैं कि नया कवि हल्के फुल्के ढंग से अपने दायित्व को पूरा करना चाहता है तो उनका मन कचोट उठता है और वे ध्यम्य कर बैठते हैं,

“किसी का सत्य था,

मैंने सन्दर्भ में जोड़ दिया ।

कोई मधु-शोष पाट लाया था,

मैंने निचोड़ लिया ।

किसी को उचित में गरिमा थी

मैंने उसे धोड़ा-सा सँवार दिया,

किसी की सवेदना में आग-का सा ताप था

मैंने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया,

कोई हुनरमन्द था

मैंने देखा और कहा, यों ।

थका भारवाही पाया—

घुड़वा या कोंच दिया, क्यों ?

किसी की पौध थी

मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली

किसी की लगायी लता थी,

मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छड़ा ली

किसी की कलौ थी

मैंने अनदेखे में खीन ली,

किसी की बात थी

मैंने मुँह से छीन ली ।”^१

इन पक्तियों में जो व्यम्य निहित है, उसका आशय मात्र इतना ही है कि नया कवि सस्ती लोकप्रियता के मोह को छोड़े और स्वयं अपनी ही अनुभूति के आवि में तप कर अपने को खरा कचन बनाये । वे तो लम्बी राह पर, कठिन राह पर चनने में विश्वास करते हैं, वे तो मूल्य के भी मूल्य की बाह पाने के लिए एक सम्पूर्ण सागर को अकेले ही उलीचने का दम भरते हैं, वे तो उस राह के राही हैं जहाँ समवेदना की आरियाँ काट कर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को खून से लथ-पथ कर देती हैं । वे पीछे मुड़कर देखनेवाले नहीं हैं, चोट से बचने में विश्वास नहीं करते, बल्कि यह चाहते हैं कि बराबर अनुभव का ढक व्यक्तित्व को

ठसता रहे। इसीलिए वे स्पष्ट और बेहिचक कहते हैं कि जब जिन्दगी का यह तेजाब चुक जायेगा तो सारे यन्त्र बेकार हो जायेंगे। सब ही जीवन की बैट्री का विद्युन्मय प्रकाश अनुभूति के तेजाब में ही जन्म लेता है। उसके चुक जाने पर सारा कारोबार ठप्प पड़ जाता है।

नया कवि जब उनके मर्म को समझे बिना अवज्ञा और अवहेलना का तैवर धारण कर उन्हें गाली देने में ही अपनी सार्यवता समझने लगता है तो कभी-कभी अज्ञेय का आहत अह उद्धत होकर नये कवि से यह कहने में भी हिचकिचाता नहीं :

“आ, तू आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रलता पैर,
मिटाता उसे,
मुझे मुँह भर-भर गाली देता
आ, तू आ।”

अज्ञेय की यह मुद्रा सहज एवं स्वाभाविक नहीं है। निश्चय ही एक अकृतज्ञ अनुज की हठधमिना की खरोच से बौखला कर उस उदार अग्रज का यह आक्रोश है, जिसने अपने जीवन भर की सचित पूँजी से अपने अनुज के लिए पय-निर्माण किया था। इसीलिए जब वे कहते हैं,

‘मेरी खोज
महीं थी उस मिट्टी की
जिसको जब चाह मैं रोदूँ, मेरी आँखें
उलझी थीं उस तेजोमय प्रभा-मुँज से
जिससे झरता कण-कण उस मिट्टी को
बर देता था कभी स्वर्ण तो कभी शस्य,
कभी जीव तो कभी जीव्य,
अनुक्षण नव-नव अकुर स्फोटित, नवरूपायित
मैं कभी न बन सका कदण, सदा
कदणा के उस अजस्र
सोते की ओर वीडता रहा जहाँ से
सब कुछ होना जाता था प्रतिपल

आलोचित,
रचित,
दीप्त, हिरण्यमय,
रहस्य-वेष्टित,
प्रभामय,
जीवनमय ।^१

अज्ञेय जब कहते हैं कि मैं इसलिए करुण नहीं बन सका कि मैं तो सदा-सदा उस करुणा के अजल सोते की ओर दौड़ता रहा जहाँ सब कुछ प्रतिपल आनोक्त, रजित, दीप्त, हिरण्यमय, रहस्य-वेष्टित, प्रभामय एवं जीवनमय होता रहा ।

करुण न हो सकने पर भी वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि उनके मन में अपने अनुगामी के प्रति रोष और आक्रोश भी नहीं है । उन्हें तो एककर पीछे मुड़कर देखने का अवकाश ही नहीं हुआ । उनके सामने तो अब भी प्रकाश सरता हुआ दिखाई पड़ रहा है । हाँ, यह कहने में भी उन्हें हिचक नहीं है कि उनकी पैरो की छाप जहाँ जहाँ पड़ी है, वहाँ मूने रेत का पैसाब था, जहाँ कोई प्यास से मर सकता था, बीहड़ झाड़खण्ड था, जिसकी खोहों में बरसों भटक सकता था, चिकनी काली रपटन थी, जिसके नीचे ज्ञान भरी मुँह बाये, घात लगाये, कुलकुलाती दल-दल थी जिसमें फँस जाने पर सर्वनाश ही हो जाना, किन्तु न तो वे प्यास से भरे, न दल दल में डूबे । अब अगर अपने दर्प से स्फीत नये कवि को उनकी पीठ ही दिखती है तो वे क्या करें ? वे तो आगे हैं और आगे ही की ओर देख भी रहे हैं । इसलिए पीछे वाले को तो पीठ ही दिखेगी ।

अज्ञेय का यह कहना केवल दर्पोक्ति नहीं है कि वे जिधर चले थे वह पथ नहीं था, वे चले इसीलिए उस बीहड़ में भी नये कवि को पैरो के चिह्न मिल सके ।

“मैं चला नहीं था पथ पर,
पर मैं चला इसी से
तुम्हको बीहड़ में भी ये पद चिह्न मिले हैं,
काँटों पर ये एकोन्मुख सकेत लहू के

बात की यह निसत, मिटाने में ही
जिसको तू फिर से तिल देगा ।”^१

काँटों पर एकोमुख-तह का सकेत देनेवाले अज्ञेय के पद चिह्न एक गहन जिजीविषा एवं विराट् सघर्ष की कहानी कहते हैं, जिनसे नये कवि को प्रेरणा लेनी चाहिये न कि आक्रोश प्रवट करना चाहिये ।

अज्ञेय के कवि ने हर मोड़ पर जिन्दगी के इशारे को जो स्वयं तो नीग्व थे किन्तु फिर भी अपनी नीरवता में ही बहुत कुछ बहते थे, समझन एवं वाणी देने का प्रयास किया है । वे कहते हैं कि यह मोह अब हम नहीं छलता है कि शब्द ही अपने-आप में इति है । अब तो जब शब्द चलन कर अर्थ को अक भेंटता है, तभी कवि के लिए उसकी सार्यकता है । इसलिए वे स्पष्ट बहते हैं,

“सभी जगह

जो मूल्यवान् है सफुचा रहता है, यद्वा, सीपी के मोती सा,

जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे ।”

इसीलिए अज्ञेय के नये जो छिछला है, ओछा है, नकली वीमलाव पर सजा हुआ लकड़क बैठा है, कोई अर्थ नहीं रखता । वे तो जीवन में गहर और गहरे उतरते चला जाना चाहते हैं । वे तो अपनी आँखों में सबकी आँखों का, सब के दर्द का सीधा साक्षात्कार चाहते हैं । इसीलिए बड़े ही वरुण शब्दों में वे नये कवि से कहना चाहते हैं कि तुम अपनी शक्ति का घमण्ड मत करो, बल्कि उपशमन का ही सहारा लो, रूपाकार पर मत जाओ, जो उसम सार है उसी का वर्णन करो, अनुभूति से डरो मत, परन्तु उसका झूठा पाखण्ड भी मत करो,

“शक्ति का मत गर्व कर

तू उपशमन का कर,

नहीं रूपाकार को, उसमें

दिपा है सार जो, वह घर ।

अनुभूति से मत डर—

मगर पाखण्ड उसके दर्द का मत कर

नहीं अपने-आप जो स्पन्दन उसे

तेरी धमनियों को, त्वचा की कँपकँपी से

१ ‘नये कवि से’—‘अरी ओ कख्या प्रभामय’, पृ० २८ ।

२ ‘लाटे यात्री का वक्तव्य, ” ” पृ० ३६ ।

भूठ मत आभास उसका स्वयं
अपने को दिखाने की
उतावली में भर ।”^१

जब अज्ञेय नये कवि को यह सलाह देते हैं कि तुम गैरो को मत कोचो, अपने-पन की ही पहचान करने की कोशिश करो तथा बड़ी से बड़ी खुशी का अविकल्प साहस के साथ सामना करो, तब उसमें बही दम्भ या अह की गन्ध भी नहीं और न नये कवि को हेठा करने का उद्धत प्रयास है। वे तो जिस राह पर स्वयं चले हैं—मुलभ जय की राह को छोड़कर कठिन से कठिन राह पर—वैसी ही कामना वे नये कवि से भी करते हैं। गहन घुप्प अँधियारी से भरी हुई छाइयों में भी नये कवि को आवश्यकता पड़े तो कूद सके, ऐसी इच्छा जाहिर करने के पीछे अज्ञेय के अपने जीवन की स्वयं वह विकट दुस्ताहसिकता है, जिसके चलते वे बिना आँख झपकाये अँधेरी से अँधेरी गुफाओं में गहरे से गहरे उतर सके। इसीलिये वे नये कवि से भी चाहते हैं कि वह दीठ की डींग न मारे, बल्कि जो भी दिख जाय उसको बूझने के लिए तपस्वा करे; अपने को प्यासा रखकर भी राह में मिले प्यासों को अपने प्राण-रस से भर दे।

अज्ञेय में नये कवि के प्रति एक अदृढ़ आत्मीयता है। उसी से प्रेरित होकर वे कहते हैं—

“तू उसे देखे न देखे
भर रहा जो अन्तहीन प्रकाश
उसे माया भुका कर पी,
तू उसे चीम्हे न चीम्हे
हो रहा जो प्राण स्पन्दन चतुर्दिक गतिमान
उतमें डूब कर ॥ ओ
तू उसे ओढे ॥ ओढे
व्याप्त मानव मात्र में है जो विशद-अग्निप्राय
तू न उससे दूट :
भौंड का मत हो, डटा रह, मगर
बिम्बिद् पान्य के समुदाय से तू
अकेला मत छूट ।”^२

अज्ञेय नये कवि को जहाँ एक ओर यह सम्मति देते हैं कि उसे भीड़ का नहीं हो जाना है अर्थात् भीड़ के दबाव से आतंकित नहीं होना है, वही उसे यह भी चेतावनी देते हैं कि जो दिग्विद् पान्थ का समुदाय है, उससे उसे किसी भी स्थिति में अवेत्ता नहीं छूटना है। अगर कभी अकेली राह पर चलना भी पड़े तो वह तो तब, जब उसे अन्य सभी के लिये तोड़ दिया गया हो। अज्ञेय तो स्वयं कगारे काटने, पत्थर तोड़ने, रोड़े बूटने तथा पथ बनाने में विश्वास करते हैं और जब पीछे से पथिक आयेँ तो उसके लिये मुदित मन से दो फूल न्योछावर करके रास्ते से हट जाने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं और ऐसी ही आशा यदि वे नये कवि से भी करते हैं तो इसमें दोष कहाँ ?

अज्ञेय और नये कवि के बीच का जो अप्रिय विवाद कुछ काल तक चला या उस सन्दर्भ में अज्ञेय की उक्तियों को बिना उस रागात्मक समाव के आधार को समझे ठीक से समझा नहीं जा सकता, जो उनके मन में नये कवि के प्रति निरंतर विद्यमान रहा है। नयी कविता के एक एक में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का परिचय कराते हुए वे लिखते हैं—

‘मानव-जीवन अधूरा है। यह केवल युग सत्य नहीं है : पहले भी मानव-जीवन अधूरा था और आगे भी अधूरा रहेगा। पूर्णता वह है जिसकी ओर हम बढ़ते हैं, वह नहीं जिसे हमने पा लिया है। पूरा या लगभग पूरा कुछ हो सकता है, तो मानव की दृष्टि ही हो सकती है। अधूरे को पूरा का पूरा देख लेनेवाली तीन आयामों में फैले हुए जब विस्तार और चार आयामों के हमारे जीवन के अधूरेपन का पूरा व्यास नाप लेनेवाली हमारी दृष्टि ही हो सकती है। इन चार आयामों से परे अस्तित्व के और भी आयाम हो सकते हैं, उनका संकेत देनेवाली उनके प्रति हमें खुला रखनेवाली यह दृष्टि ही हो सकती है।’^१

ऐसी ही खुली दृष्टि वे नये कवि से चाहते हैं, इसीलिए एक अध्यवसायी आस्थावान अग्रज के नाते वे नये कवि के सामने प्रस्तुत होनेवाले खतरों को रेखांकित करने में भी हिचकते नहीं। काव्य एक अनुशासित अभिव्यक्ति है इसे रेखांकित करते हुए वे कहते हैं, ‘एक सोने का पीजरा होता है जिसमें हम पक्षी रखते हैं, एक पक्षी का अस्थि-पिजरा होता है जो उसे पक्षी बनाये रखता है और पक्षी से इतर कुछ नहीं होने देता। ये अनुशासन के पर्याय हैं। रचनाकार का कौशल वह चीज है, जिसके कारण पक्षी को अस्थि-पिजरा के सहारे पक्षी बने रहना चलता नहीं, बल्कि मालूम ही नहीं होता। न पक्षी को देखनेवाला

उस पिंजर को देखता या उसकी घात सोचता है।'^१

नयी कविता को युग की थेष्ठतम अभिव्यक्ति बनाने के लिए अज्ञेय सतत जागरूक हैं।^२ वे तीसरा सप्ताह की भूमिका में लिखते हैं—

‘प्रयोजन यह है कि सकलित कवियों में अपने कविकर्म के प्रति गम्भीर उत्तर-दायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिये। जो वाक्य में सत्य क्योंकि वस्तुसत्य का रागाश्रित रूप है, इसलिए उसमें व्यक्ति वैचित्र्य की गुजाइश तो है ही, व्यक्तियों की छाप से युक्त होकर ही वह वाक्य का सत्य हो सकता है। क्रीडा बल्कि और सीला-भाव भी सत्य हो सकते हैं।

जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और सस्कारिता भी। देखना यह होता है कि सत्य के साथ खिड़वाइ या फ्लर्टेशन मात्र न हो।’

इस कसौटी पर जो कवि नहीं उतरते उनसे अज्ञेय को अवश्य कुछ शिकायत है और उस शिकायत के पीछे एक गहरे लगाव की ही पृष्ठभूमि है। डा० जगदीश गुप्त ने व्यथित होकर नयी कविता के एक अंक में लिखा है कि वे चाहते हैं कि अज्ञेय द्वारा लिखी गयी उन कविताओं को भूल जायें जो उन्होंने नये कवि को फटकारते हुए और व्यग्न करते हुए लिखी है। अज्ञेय के प्रति एक नये कवियों के प्रति समान राग के कारण डॉ० गुप्त की यह व्याप्ति समझ में आने वाली है किन्तु थोड़ा ही तटस्थ होकर देखने पर अज्ञेय की रचनाओं के पीछे जो डाक्टर के नशतरवाला तेवर है, उसे भी समझने में कठिनाई नहीं होती चाहिये। नयी कविता और नया कवि अज्ञेय के जीवन की केन्द्रीय सच्चाई है। इसे उन्होंने अविकल प्रेम दिया है और इसके सस्कार की रक्षा के लिए कहीं वे निर्मम, क्रुद्ध और आक्रुष्ट भी नजर आयें तो उसमें कहीं कोई अदृशभाविकता नहीं। नये कवि के प्रति उनकी भावनाएँ सदा राग के स्तर पर ही रही हैं। इसीलिए उनमें दुलार भी है, प्रतारणा भी है, उपालम्भ भी है, व्यग्न भी है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण उनका वह कोमल सस्पर्श है, जिसका अनुभव नया कवि किये बिना रह नहीं सकता। इसीलिए हर कवि के प्रति उनकी उत्किया को उनकी वैयक्तिकता का एक नया आयाम कहा गया है।

१ नयी कविता पृ० ३७।

२ तीसरा सप्ताह, पृ० १६।

अज्ञेय ने नयी कविता के अनेक कवियों को इतना प्रोत्साहन, प्रथम एवं सम्मेलन दिया है जितना किसी काव्यधारा के प्रवर्तक द्वारा शायद ही सम्भव हो पाना है। न केवल उनके रचनात्मक कर्म में बल्कि जीवन में भी अज्ञेय ने आज के प्रतिष्ठित नये कवियों में से अनेक को अपनी राह पर निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक चलने की शक्ति और साहस जुटाने में सहायता की है। एक पूरे काव्य-युग को अज्ञेय ने अनेक स्तरों पर गहराई से प्रभावित किया है। 'नई कविता पर लघु मानव के बहाने एक बहस' शीर्षक लेख में प्रो० विजयदेव नारायण साहू ने अज्ञेय एवं नई कविता के बीच के अन्त-संबंध पर गहरा प्रकाश डाला है। नई कविता में जो एक अदृष्ट आत्मविश्वास का स्वर है उसके निर्माण में अज्ञेय का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रथम, द्वितीय एवं तीसरे सप्तक के प्रायः सभी समर्थ कवियों ने कही न कही अज्ञेय के इस योगदान को माना है। पहले सप्तक के कवियों में समकालीन रचनाकर्मी होने के नाते यह आत्मस्वीकृति उतनी मुखर नहीं है, किंतु दूसरे और तीसरे सप्तक के कवियों में तो उसे स्पष्ट सूँघा जा सकता है। पहले सप्तक के कवियों में केवल मुक्तिबोध और एक हृदय तक गिरिजाकुमार भायुर या कवि-व्यक्तित्व अपनी सशक्तता एवं सामर्थ्य से अज्ञेय के समानान्तर दिखाई पड़ता है।

जागे की १५-२० वर्ष की कविता में जितने भी सशक्त हस्ताक्षर आये, अज्ञेय ने अपने रचना-कर्म एवं निष्ठा से उन्हें गहराई से प्रभावित किया है।

(च) अज्ञेय की प्रणयानुभूति एवं उसमें वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति

छायावादोत्तर कवि विशेषकर घञ्जन, नरेन्द्र एवं अचल ने अपनी आकुल प्रणय अनुभूतियाँ का जिस प्रकार निसर्कोच और खुले ढंग से अपने काव्य में अभिव्यक्त किया था, अज्ञेय तक पहुँच कर उस ढंग में एक वैशिष्ट्यपूर्ण बदलाव आना है। अज्ञेय के व्यक्तित्व की अन्य सारी विशिष्टताओं के साथ अपनी प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति की एक अभिनव शैली विकसित करनेवाली विशिष्टता भी उतनी ही महत्व रखती है। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि भनुष्य के मूल रागात्मक सम्बन्ध नहीं बदलते, वे तो प्रारम्भ से ही ज्यों के त्यों बने हुए हैं, परन्तु रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदलती रहती हैं। प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति की प्रणाली बदल जाती है। वे प्रतीक बदल जाते हैं, जिनके

हाथ मिलाकर शोणित के प्रवाह में जीवन का शैथिल्य भुलाने की किसी अनिवार्यतायुक्त मुय में खो जाना चाहता है ।

वासना से मुक्ति का वह आग्रह अज्ञेय की कुछ बाद की कविता 'यादू मेरे घेर कर तुमको रुके रहे' में व्यक्त हुआ है, जहाँ वे अपनी प्रियतमा से एक सन्धे अन्तराल के पश्चात् मिलने पर सान्निध्य के सुख से ही पूर्णतया अभिभूत हैं और उनके बीच में वासना का ज्वार नहीं बुदबुदाता

"यादू मेरे घेर कर तुमको रुके रहे
नहीं मुझमें तोय कोई अहं की अभिप्रेक्षा जानी
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की
धनो बेबस केन-तो उच्छ्वसित सभमाणी"

+ + +

नहीं उमड़ा घुमड़ता सलुब्ध सर में वासना का बुद-बुदाता ज्वार :
नहीं झुमर हुआ हमको स्वयं अपना डाल-
मिलन के अतिरेक का प्रवेद-रत्न सभार ।"^१

अज्ञेय अपने प्रणय को प्रदर्शन बनाने में विश्वास नहीं रखते । वह तो उनके लिए नितान्त वैयक्तिक अनुभूति है, जिसे सार्वजनिक बनाकर उसके सौन्दर्य एवं मर्मरूपिता को वे रचमात्र भी हल्का नहीं करना चाहते । उनके प्रणय-व्यापार को आकाश और धरती, दूरवा और मेघाली भले देख लें, किन्तु सन्धे शिष्ट जीवन के भागीदार नागरिकों की उस पर छाया नहीं पड़े तो अच्छा है ।

"आओ बैठें
इसी ढाल की
हरी घास पर ।
माली-घीकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो
अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है—हरी, न्योततो
कोई आवर रोदे ।
आओ, बैठो ।
तनिक और सटकर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का
व्यवधान रहे, बस,

नहीं दूरों सभ्य शिष्ट जीवन की ।”^१

इसी कविता में कवि अपनी प्रणय-स्थिति को उद्घाटित करता हुआ कहता है :

“क्षण भर हम न रहें

रह कर भी :

सुनें गुँज भीतर के सूने सन्नाटे में

किसी दूर सागर की सोल सहर की

जिसकी छाती की हम दोनों छोटी-सी सिहरन हैं—

जैसे सीपी सदा सुना करती है ।

क्षण भर लय हों

में भी, तुम भी,

और न सिमटे सोच कि हमने

अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना ?

क्षण भर अनायास

हम याद करें ।”^२

अश्वेत अपनी प्रणयानुभूति के चरम क्षणों में रहकर भी न रहने की कल्पना करते हैं । अपने भीतर के सूने सन्नाटे की गुँज को सुनते हैं और क्षण भर के लिए अपने और अपनी प्रियतमा को लय हो जाने की स्थिति में अनुभव करते हैं । यह आत्म-लय, आत्म-विसर्जन अश्वेत के प्रणय को कहीं न कहीं मुक्ति का, सीमाहीन खुलेपन का एहसास कराता है ।

अश्वेत के लिए प्रणय का बन्धन कोई स्थायी बन्धन नहीं । अपनी कविता ‘पूछ लूँ मैं नाम तेरा’ में वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं :

“जो सदा बाँधे रहे,

वह एक कारागार होगा,

घर वही है जो बंके को

रैन भर का हो बसेरा ।”^३

अश्वेत ने अपनी मान्यता के लिए मृष्टि के नियमों से भी प्रमाण ढूँढ़ा है ।

“श्वास की हैं दो क्रियायें—

सोचना, फिर छोड़ देना,

१. ‘नाम तेरा’—इत्यतम्, पृ० ११७ ।

२. ‘नाम तेरा’—इत्यतम्, पृ० ११७ ।

३. ‘नाम तेरा’—‘इत्यतम्’, पृ० ११७ ।

फव भला संभव हमें इस
अनुक्रम को तोड़ देना ?
श्वास की उस सन्धि-सा है
इस जगत में प्यार का पल ।”^१

अज्ञेय के लिए इस संसार में घूमते हुए दो व्यक्तियों का प्रणय के आवेश से आविष्ट हो जाना वैसा ही है, जैसे अनन्त अन्तरिक्ष में घूमते हुए ग्रहपिण्डों की मेललाभों का क्षण भर के लिए छू जाना। अतः प्रेम उनके लिए चिर-ऐक्य का प्रतीक नहीं है। वे तो स्पष्ट कहते हैं :

“विरह की बीड़ा न हो तो
प्रेम क्या जीता रहेगा ?”

प्रणय की अनुभूति जहाँ अज्ञेय के लिए स्थायित्व के तत्त्व से वंचित है वही सम्पृक्ति से शराबोर भी है। प्यार उनके लिए हल्की-फुल्की अनुभूति नहीं, वह तो निधि है। वह नहीं है तो वे नहीं है

“और मेरे प्यार, तुम भी हो।
चादनी भी है।

सधु के गन्ध बहुविध—पल्लवों के,
बीरको के—

गन्धग्रह में बसे, वे भी हैं।

चादनी भी है।

नहीं है तो मैं नहीं हूँ।

इसलिए तुम प्यार तो मेरा—कि वह तो है।

प्यार है—निधि।

नहीं है तो मैं नहीं हूँ। किन्तु जो मिट गये उनका

प्यार ही तो

प्यार है ।”^२

अज्ञेय अपने प्रणयाकुल क्षणों में पूर्ण आत्मदान की अनुभूति से भीग उठते हैं।

उनके प्यार के क्षणों में उन्हें अपने प्रियतम का नाम सरिता की लहर में काँपता दिखाई पड़ता है, पेड़ों के गान में सुनाई पड़ता है, झरने के बिन्दुओं की हँसी में वही नाम दिखाई पड़ता है। उसी नाम से सतारों-मर्मरित होती हैं, उसी

१. ‘नाम तेरा’—इत्यलम, पृ० १७७।

२. ‘पूर्वा’, पृ० २२७।

के कारण सिहर कर कलियाँ अनदेखी ही झड जाती है। उसी के कारण मेघ पन बनते हैं, बलाकाये उड़ती हैं। कवि को ऐसा लगता है कि प्रकृति में चारों ओर वही नाम गूँज रहा है। दो मानसों के संस्फुरण में वही नाम संगीत बनकर मुखरित होता है। इस प्रकार अपनी प्रियतमा का सम्पूर्ण प्रकृति के कण-कण में दर्शन अपने प्रणय-सिक्त क्षणों में कवि करता है। अज्ञेय की प्रणयानुभूति जहाँ इतनी घनीभूत है, उतनी ही अपने प्रियतम के समक्ष सम्पूर्णतः समर्पणशील भी है। कवि का अपराजय व्यक्तित्व अपने प्रिय के समक्ष सब कुछ अर्पित कर देता है।

“एक दिन जब

प्यार से

संघर्ष से

आत्मीय से, करुणा-धृणा से, रोप से,

विद्रोह से, उल्लास से,

सब

निविड़ संवेदनाओं की सघन अनुभूति से

बँधा, वेष्टित,

बिद्ध जीवन की अनो से—स्वयं अपने प्यार से—

एक दिन जब

हाय ! पहली बार !

जानूँगा कि जीवन

जो कभी हारा नहीं था, हारता ही किसी में जो नहीं

अपने में चला अब हार

एक दिन

उस दिन

जिसे अपनी पराजय भी

दे सकूँगा समुद्र, निस्संकोच

उसी को

आज

अपना गीत देता है।^१

इन पंक्तियों में अज्ञेय ने अपनी उस चरम समर्पण की भावना को व्यक्त किया है, जिसका अधिकारी वह प्रियतम ही हो सकता है, जिसे अपनी पराजय को

१०२ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

भी समुद्र और निःसंकोच भाव से अर्पित किया जा सके। अज्ञेय की प्रणयानुभूति एक पूजा-भाव से वेष्टित है।

अपने दूरवासी प्रिय के नाम धूप की दो बत्तियाँ अर्पित करते हुए कवि कहता है—

“ये

तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं

धूप की

झोरियाँ दो गन्ध की

जो न धोखें

किन्तु तुमकी छू सकें

जो

बिबेही स्निग्ध बाँहों से तुम्हें

धलपित क्रिये रह जाय।

बया है और मेरे पास ?

हाँ, आस :

मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं

पर माय के कितने न जाने सेतु

अनुक्षण बाँधता है—”^१

इन पंक्तियों में व्यक्त की हुई अनुभूति अनेक पाठकों को वायवीय प्रतीत हो सकती है, किन्तु यह तो कवि के हृदय की वह उच्छन्न अनुभूति है, जो उसके लिए पूर्ण तथा सत्य है। अज्ञेय प्रणय के स्थूल व्यापारों की अभिव्यक्ति के पक्ष-धर नहीं हैं। उनके लिए प्रणयानुभूति की अभिव्यंजना अपनी साकेतिकता में ही सार्थक है। ‘साँझ मोड़ पर विदा’ शीर्षक कविता में कवि अपने पथ के साथी को विदा करते हुए कहता है : अब मोड़ आ गया। ऐ पथ के साथी, अब और बिलम्ब मत करो, जाओ :

“हाँ, उस आइँ भाव को रहने दो बाप्याकुल
वह मेरा पहचाना है।

घन्यवाद का पात्र ? मैं नहीं, पथ है।

पथ ने ही मुझको प्रतिष्ठा दी—

यह मोड़ कसक अब देगा।

और मैं बिलम्बो

जाओ पथ के साथी ।

और तुम्हारी यह अनकही आर्द्रता

(इसी नदी पर तिर आती है नौवा सरस्वती की)

सुभको देगी वाणी

और न बिलमो' १

अज्ञेय के जीवन में सर्वत्र उनके प्रिय की अनकही आर्द्रता छाई रही है। उसी ने उनको वाणी दी है। वही उनकी प्रेरणा की स्रोत रही है। वह वाष्पाकुल-आर्द्रभाव अज्ञेय का सचमुच चिर-परिचित भाव है। प्रणय के नाम पर जो स्पूल कार्य व्यापार अथवा रोदन कन्दन छायावादोत्तर कविता में व्यक्त हुआ है, उससे अज्ञेय की प्रणयानुभूति की घनावट निश्चय ही भिन्न है, उनकी संस्कृति भिन्न है। उसमें उनका भोगा हुआ यथार्थ नितान्त सुसंस्कृत संकेतो में व्यक्त हुआ है। उनके लिए जीवन एक नीरव नदी की तरह प्रवहमान रहा, जिसमें रह सबत के बुलबुले उमड़ते थे। हर उमड़न पर उन्हें रोमांच होता था, हर बुलबुले के फूटने का तीखा दर्द अपनी पूरी महारई के साथ वे अनुभव करते थे और हर दर्द ने उनके जीवन को एक नई अर्थवत्ता से भर दिया। हर पीड़ा ने सृजन के नय स्वर को उभारा। जिस कवि ने अपने जीवन के उभार पर कभी बेहिचक यह कहा था

“पर मन्दिर की भाँग यही है

बेदी रहे न क्षण भर सूनी

वह यह सब इंगित करता है,

बिसकी प्रतिमा वहीं बिठाऊँ”

वह कवि सचमुच जीवन भर अपने हृदय-मन्दिर की बेदी पर कोई न कोई प्रतिमा सदा प्रतिष्ठित किये रहा। जब जो प्रतिमा उस बेदी पर रही, पुजारी की सपूर्ण पूजा की अधिकारिणी रही। अज्ञेय की प्रणय साधना भी उनकी वाच्य-भावना की भाँति ही निरंतर एक जीवन्त-प्रक्रिया रही। प्रत्येक प्रणय ने उन्हें आस्था और प्रेरणा के नये-नये स्रोतों से लैस किया एवं जीवन के प्रति एक नयी स्फूर्ति एवं सृजनशीलता की भूमिका निर्माण की। परन्तु अपनी प्रेरणा-शक्ति में रिक्त होने ही वह बेदी में ओझल हो जाना है या कर दिया जाता है।

अज्ञेय का व्यक्तित्व इतना सुसंस्कृत, शासीन एवं भव्य रहा है कि उनकी

१०२ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

भी समुद्र और निःसंकोच भाव से अर्पित किया जा सके। अज्ञेय की प्रणय भूति एक पूजा-भाव से वेष्टित है।

अपने दूरवासी प्रिय के नाम धूप की दो बत्तियाँ अर्पित करते हुए कहता है—

“दे

तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं

धूप की

डोरियाँ दो गन्ध की

जो न बोलें

किन्तु तुमको छू सकें

जो

विदेहो स्निग्ध बांहों से तुम्हें

बसवित्त किये रह जाय।

बया है और मेरे पास ?

हाँ, भास :

मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं

पर भाव के कितने न जाने सेतु

अनुसूचन धाँपता हूँ—”^१

इन पक्तियों में व्यक्त की हुई अनुभूति अनेक पाठकों को घायल करती है, किन्तु यह तो कवि के हृदय की वह उच्छन्न अनुभूति लिए पूर्ण तथा सत्य है। अज्ञेय प्रणय के स्थूल व्यापारों की अति धर नहीं हैं। उनके लिए प्रणयानुभूति की अभिव्यजना अपूर्ण ही सार्यक है। ‘साँझ मोड़ पर विदा’ शीर्षक कविता में कवि ठ को विदा करते हुए कहता है अब मोड़ आ गया। ऐ प और बिलम्ब मत करो, जाओ -

“हाँ, उस आश्रम भाव को रहने दो बाष्पाकुल
वह मेरा पहचाना है।

धन्यवाद का पात्र ? मैं नहीं, पय है।

पय ने ही मुझको प्रतिष्ठा दी—

यह मोड़ कसक अब देगा।

और न बिलम्बो

गयी। यह सही है कि उनके जीवन में अनेक व्यक्ति आये और उन्हें प्रेरणा और सृजनशीलता देकर चले गये, जिससे लोगो को यह कहने का अवसर मिला कि दूसरो के जीवन-रस को निचोड़ कर अज्ञेय ने अपना व्यक्तित्व एवं कृतित्व निर्मित किया है। परन्तु इस प्रकार का आरोप अज्ञेय के लिए उचित नहीं है। अज्ञेय प्रेम के क्षेत्र में देने और लेने में विश्वास नहीं करते। वे तो अपने प्रणय के आकुल-व्याकुल क्षणों में अपने प्रेमी से एक होकर उसमें लय हो जाते हैं, एक कैवल्य की स्थिति का अनुभव करते हैं। उन्हीं के शब्दों में

“वामना से, पाषना से हम परे थे
सहज अनुरागी”

अज्ञेय के प्रणय-जीवन का सबसे बड़ा पायेय रहा है, दर्द। उनके सृजन की प्रेरणा में यह दुःख सबसे बड़ा केन्द्रीय तत्त्व रहा है। उन्हीं के शब्दों में,

“दुःख वह दृष्टि देता है, पर ऐसा है तो दुःख किसी भी सौत्र अनुभूति का नाम है—ऐसी अनुभूति जो सवेदना को, चेतना को घनीभूत आलोक-रूप दे देती है।”^१

इस दृष्टि से अज्ञेय की अनुभूति बहुत अर्थों में श्री जयशंकर ‘प्रसाद’ के बहुत निकट है। प्रणय ने एक गहन वेदना को और वेदना ने एक गहरी सृजन-शीलता को इन दोनों कवियों के लिए जन्म दिया है। प्रसाद के ‘आँसू’ की ये पंक्तियाँ सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती हैं

“जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तिष्क में स्मृति सी छापी
हुद्दिन में आँसू धनकर
वह आग धरसने आयी”

प्रसाद ने उसी वेदना से अपने सृजन की संवारा था। उसी विरह की विषम वेदना में कवि ने यह मकल्प निमित्त किया था,

“समझूँगा धूस कणों में
सीरम हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहों तुम्हें तो
पह पय में टकराऊँगा”

अज्ञेय ने बहुत स्पष्ट शब्दों में निर्या है -

“दुःख सब को माँजता है

प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति भी निश्चित रूप से उसी अनुगत में योग्य, अपेक्षाकृत चायनीय प्रतीत होनेवाली एव प्रायः सानेतिर रही है। वे प्रणय के क्षेत में आदिम मनुष्य के पशुतुल्य व्यवहार में बहून ऊँचाई पर है। वही भी उनकी प्रणयाभिव्यक्ति बरंर और आदिम स्तर पर नहीं दृष्टिगत होती। एक स्थल पर वे लिखते हैं कि प्रणयाकुल युगल का एक दूसरे की ओर देखना यद्यपि भावनात्मक दृष्टि से गदा उतना ही सवेदना स परिपूर्ण रहा है किन्तु देखने के तरीके अलग अलग रहे हैं। प्रेमी-युगल का एक दूसरे की ओर धूर-धूर कर देखना आज के इस आधुनिक युग में भी असम्भव व्यापार है। किन्तु देखने का एक सूक्ष्म ढंग ऐसा भी है जो सौन्दर्य का निवेद्य कहा जा सकता है। अज्ञेय ने इस दूसरी दृष्टि को ही प्रतिफलित होते हुए देखा गया है। वे कहते हैं, 'देखना अश्लील नहीं है, अधूरा देखना अश्लील है। इनका ही नहीं, गिणु और माना की एक दूसरे के सम्मुख नग्नता, नगापन या अश्लीलता नहीं है, यह भी कि अनुरागवद्ध प्रणयी युगल की एक दूसरे के सम्मुख नग्नता भी नगापन या अश्लीलता नहीं है। वहाँ अश्लीलता उसी को दिखती है जो अधूरा देखता है, जो केवल नगापन देखता है, उसे औचित्य देनेवाली पूर्णता को नहीं।'^१

इस प्रकार अज्ञेय की दृष्टि में एक समग्रता है।

उनके प्रणय की दूसरी सबसे बड़ी विशिष्टता है, प्रणयानुभूति की सपनता एव सम्पृक्तता। वे अधूरे समर्पण में विश्वास नहीं करते। वे निस्सग और सपूर्ण समर्पण में विश्वास रखनेवाले प्रणयी हैं। एक स्थल पर वे लिखते हैं, "क्योंकि केवल अपने में जो है, उसके प्रति समर्पण काफी नहीं है। अपने से बाहर और बड़ा भी कुछ है जिसके प्रति भी उतना ही निस्सग समर्पण वास्तव में चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है।"^२

अज्ञेय का प्रेम सदा गहन अनुभूति से शराबोर है। अपने प्रारम्भिक काव्य-विकास के एक मोड़ पर उन्होंने लिखा था -

“जब नहीं अनुभूति मिलती
सोग दर्शन चाहते हैं,
उदधि बढ़ते बूँद पाकर
विधि विधान सराहते हैं।”

अज्ञेय की यह प्रारम्भिक दृष्टि ही आगे चलकर परिपाम की ओर बढ़ती चली

गयी। यह सही है कि उनके जीवन में अनेक व्यक्ति आये और उन्हें प्रेरणा और मृत्तनशीलता देकर चले गये, जिससे लोणा को यह कहने का अवसर मिला कि दूसरों के जीवन रस को निचोड़ कर अज्ञेय ने अपना व्यक्तित्व एवं कृतित्व निमित्त किया है। परन्तु इस प्रकार का आरोप अज्ञेय के लिए उचित नहीं है। अज्ञेय प्रेम के क्षेत्र में देने और लेने में विश्राम नहीं करते। वे तो अपने प्रणय के आकुल-व्याकुल क्षणों में अपने प्रेमी में एक होकर उममें लय हो जाते हैं, एक कैवल्य की स्थिति का अनुभव करते हैं। उन्हीं के शब्दों में

“वासना से, याचना से हम परे थे
सहज अनुरागी”

अज्ञेय के प्रणय-जीवन का सबसे बड़ा पायेय रहा है, दर्द। उनके सृजन की प्रेरणा में यह दुःख सबसे बड़ा केन्द्रीय तत्त्व रहा है। उन्हीं के शब्दों में,

“दुःख वह दृष्टि देता है, पर ऐसा है तो दुःख किसी भी तीव्र अनुभूति का नाम है—ऐसी अनुभूति जो संवेदना को, चेतना को घनीभूत आलोक रूप दे देती है।”

इस दृष्टि से अज्ञेय की अनुभूति बहुत अर्थों में थी जमशकर ‘प्रसाद’ के बहुत निकट है। प्रणय ने एक सहन वेदना की और वेदना ने एक गहरी सृजन-शीलता की इन दोनों बलियों के लिए जन्म दिया है। प्रसाद के ‘आँसू’ की य पत्तियाँ सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती हैं

“जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति भी छापी
हुस्न में आँसू बनकर
वह आज धरसने आयी”

प्रसाद ने उन्हीं वेदना से अपने सृजन की संवारा था। उसी विरह की विषम वेदना में बलि ने यह सकल्प निमित्त किया था,

“बभकूँगा धून कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा”

अज्ञेय ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है

“दुःख सब को भाँजता है

और सब को मुक्त करता वह न जाने किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सोख देता है
कि सब को मुक्त रखे^१

अज्ञेय का यह दुःख प्रणय की आग में सपने से प्राप्त हुआ है। निश्चय ही अज्ञेय की प्रणयानुभूति में कुछ ऐसा विशिष्ट तत्त्व है, जो उन्हें अन्य कवियों से भिन्न करता है। उन्हीं के शब्दों में

“तुम ? हृदय के भेद मेरे, अंतरंग सत्ता-सहेली हो,
खगों से उड़ रहे जीवन-क्षणों के तुम पटु बहेली हो,
नियम भूतों के समातम, स्फुरण की सीला नवेली हो
किन्तु जो भी हो, निज तुम प्रश्न मेरे, प्रिय प्रतिभिज्ञेय !
मेरे कर्म, मेरी दीप्ति, उद्भव निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी पहेली हो
तुम जिसे मैंने किया है याव, जिससे बँधी मेरी प्रीति।”^१

अज्ञेय का प्रिय, उनका कर्म, उनकी दीप्ति, उनका उद्भव निधन, उनकी मुक्ति, प्यार एवं उनके लिए उनके जीवन की संपूर्णता का दूसरा नाम है।

अज्ञेय के ही शब्दों में उनके प्रणयाकुल क्षणों को स्मरण किया जाय

“तुम्हारी याद बिरती है
उमड़ कर विवश बूँदें बरसती हैं—
तुम्हारी सुधि बरसती है।
म जाने अन्तरात्मा में
मुझे यह कीन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से
डूँ ख जाना था।”^२

अज्ञेय की प्रणयानुभूति सदा एक करुण विश्वास की धरोहर अपने में सँभाले रहती है। एक ऐसी करुणा जो प्रिय के प्रति गहन विश्वास से मण्डित है, अज्ञेय के प्रणय को अत्यन्त ही विशिष्ट एवं उदात्त बना देती है। निम्न पक्तियाँ इसका प्रमाण हैं।

“जब आगे दिन

१. ‘हरी पास पर क्षण भर।’

२. ‘पहला दीपरा’—‘हरी पास पर क्षण भर’।

१०८ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य -

उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको, किमपि दो, या त्रय को
अपनी-सी पहचानवा सके
रस-मय करके गिस्ता सकें—
शाश्वत हमारे लिए वही है।
शजर अमर है
वेदितव्य
अक्षर है।
एक क्षण : क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।

+ + +

एक क्षण। होने का
अस्तित्व का अजल अद्वितीय क्षण।
होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के जग का
क्षण के अलण्ड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं।^१

अज्ञेय की काल चेतना और कालानुभूति का एक हृदय तर परिचय इन पक्तियों से होता है। अज्ञेय का क्षण काल का कितना छोटा खण्ड है, इसका महत्त्व नहीं। महत्त्व है इस बात का कि उस क्षण में कवि को सत्य के सुरभि-भूत सस्पर्श की अनुभूति हो सकी, उसके आलोक से वह सम्पूत और विमोर हो सका। यदि ऐसा हो सका तो फिर वह क्षण उसके लिए अमरता का क्षण है। फिर वह और जीना नहीं चाहता। फिर तो केवल वह इतना ही और चाहता है कि उस विविक्त, अद्वितीय क्षण को पूरी सौर पर जी ले, पी ले और आत्मसात् कर ले। परन्तु इतना ही नहीं, वह यह भी चाहता है कि उस क्षण की विविक्त अद्वितीयता को दूसरों के लिए भी वैसी ही पहचान से मुक्त कर सके, उन्हें भी अपने जैसा पहचानवा सके, रसमय बनवा दिखा सके। यदि ये दोनों स्थितियाँ सम्भव हो सकी जर्थात् सत्य का सस्पर्श भी हुआ तथा उस

१. नयी कविता - एक सन्भाव्य भूमिका, 'इन्द्रधनु रौंदि हुए थे,' पृ०

संसार का सृजन भी हा गया तो फिर कवि ने लिए वह थजिर, अमर और वेदितव्य अक्षर का गया। फिर वह धाग छोटा नहीं रहा। फिर तो उसमें संपूर्णता व्याप्त हो गई। कवि के लिए वह महास्रुधि बन गया। यह क्षण कवि के होने के सत्य का, और उस सत्य के साक्षात्कार का ही क्षण नहीं है, बल्कि साक्षात्कार के सृजन का भी क्षण है जो उग क्षण के अक्षण्ड पारावार में आवमन करने की अनुभूति देता है।

कवि की ही शब्दावली में उग क्षण को ग्रहण करने की कोशिश की जाय तो यह कवि के उस आत्मोन्स्रुरण का क्षण है जब वह मरत और शब्द के बीच की दीवार को विस्फोटक में उछाकर उड़ एन कर देता है (शब्द और सत्य)। अनुभूति और अभिव्यक्ति का जोड़न वाला क्षण कवि के जीवा का निश्चय ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्षण है। यिन्नु यहाँ हम अंग्रेज की उस मान्यता को रेखांकित करना भी जरूरी लगता है जहाँ के यद्न कि सत्य के साक्षात्कार की अनुभूति का क्षण कभी हृदय की सीरी में बरसी पकने के बाद मोती बनकर निवर्तता है।

“एक क्षण भर और :

सम्मे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।

भूँद स्वाती के मते ही

धेपती है मर्म सीरी का उसी निर्मम स्वरा से

यद्य जिससे पोइता घट्टदान को

मते ही फिर धमपा के तम मे

घरत पर घरत बातें

एक भुवता-रूप को पकते।”

उन पवित्रता में अंग्रेज ने सृजन-प्रक्रिया का एक सहज स्वरूप निरूपित किया है। किसी निजी अनुभूति का सात्त्वानिक विस्फोट उतना रसमय, शाश्वत और सार्वजनीन नहीं होता, जितना हृदय के आवे में तपे हुए सत्य का आत्मोन्स्रुरण रूप। ‘अच्छे अनुभव की भट्टी में तपे हुए कण-दो-कण अन्तर्दृष्टि के।’ यहाँ हम श्री सदमीकात्त वर्मा के इस कथन से सहमत हैं। “प्रत्येक सी-दर्य-अनुभूति का क्षण हमारे पास प्राप्त सवेदन-तत्त्वों (Sense-data) में एक नयी रागात्मक सम्बन्ध की संभावना को प्रस्तुत करता है। वास्तविक वाक्यानुभूति की अभिव्यक्ति इस रागात्मक सम्बन्ध के बोध और उपलब्धि से

विवसित होती है, इसीलिए कवि की आत्म-चेतना (self-consciousness) वास्तव में उस यथार्थ (reality) की अन्वेषणात्मक जिज्ञासा में है, जो उस अनुभूत क्षण की आन्तरिक अनुभूति (real immanence) के लिए जागृत होती है।^१ इस अन्वेषणात्मक जिज्ञासा को सृजनात्मक परिणति तक पहुँचाने में कभी-कभी लम्बा वक्त लगता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि 'सत्य के सुरुभि-भूत स्पर्श' तथा उसे दूसरो तक पहुँचाने के बीच लम्बा अन्तराल पड़ जाता है। ऐसा अन्तराल प्रायः रचना में गहराई लाना है, उसमें एक शाश्वत क्षीपक पैदा करता है। अज्ञेय की अधिकांश उत्कृष्ट रचनाओं में यह अन्तराल रहा है—सीपी के गर्भ में स्वाती-बूँद पड़ने और उसे मुक्ता-रूप में पकने के बीच का अन्तराल।

कभी-कभी कवि को लगता है कि किसी घनी धुन्ध से कोई छाया निबल-कर क्षण भर में ही फिर उसी घनी धुन्ध में खली जाती है। किन्तु उसी क्षण में कवि को आलोक भी मिल जाता है, रस भी और चिरन्तन दृष्टि भी।^२ छाया का ऐसा रहस्य-मय क्षणिक दर्शन कवि के लिए क्षणिक अनुभूति का नहीं बल्कि चिरन्तन दृष्टि का आधार बन जाता है। ऐसा क्यों और कैसे होता है? लगता है जिन प्रश्नों, जिज्ञासाओं और चुनौतियों से कवि की चेतना जूझ रही है, सहसा उनका समाधान उसकी चेतना के सम्मुख कौंध जाते हैं। ऐसी कौंध फिर क्षणिक नहीं रह सकती। उसका स्वायत्तीकरण स्थायी हो जाता है, चाहे मने वह विद्युत् की भाँति कौंध कर ओझल हो जाये।'

क्षण की पावनता को अज्ञेय ने कैसे-कैसे प्रसंगों में अनुभूत किया था इसका एक उदाहरण इन पक्तियों में :

‘यह सूरज का जपा-फूल
नैवेद्य चढ़ चला
सागर-हाथों
अम्बा तिमिरमयी को
रको साँव भर,
फिर मैं यह पुजा-क्षण
तुम को दे दूँगा

१ नई कविता—संयुक्तांक ५-६, पृष्ठ १२६-३०।

२. घनी धुन्ध से काया—‘अरी ओ करुणा प्रभामय’, पृष्ठ ६६।

की तलाश में रहे हैं जो अभी-अभी नहीं था और अब हो चुका। इसी अस्तित्व को पकड़ कर वह झंझोड़ लेना चाहते हैं :

‘कोई है

जो अतीत में जीते हैं :

भाग्यवान हैं वे, क्योंकि उन्हें कभी कुछ नहीं सलता
हामा ।

कोई है जो भविष्य में जीते हैं :

भाग्यवान हैं वे, क्योंकि वे आगे देखते
ही चुक जायेंगे ।

कोई है जो—

इस लोज में, इस प्रतीक्षा में हैं

कि घर्तमान हो जाये—

वे कहाँ हैं, किसमें जीते हैं ?

घर्तमान—निरन्तर होता हुआ—

क्या वह अपने को पाता है ?

याकि घूमता ही जाता है ?

और वे—

कहाँ है वह पकड़ कि अस्तित्व की झंझोड़ सूँ—?

(क्ष) अज्ञेय की दृष्टि : कुहास की देहरी के पार

भारतीय जीवन-परंपरा में एक सामान्य जीवन की ओर मजिलें स्वीकार की गई हैं, वे सहज एवं संपूर्ण जीवन की सहज मजिलें हैं। ग्रहचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, ये चारों आज भी उतने ही सहज क्रम के अंग हैं, जितने कभी बहुत पहने रहे होंगे। एक स्वस्थ शरीर के स्वस्थ मन की यह सहज विकास-प्रक्रिया है। आज की बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस पुरानी बात को महत्व देना बहुतों को बहुत आधुनिकता विरोधी दृष्टिकोण प्रतीत होगा। परन्तु सारे बोध-विकास के स्तरों में परिवर्तन के बावजूद प्रवृत्ति की दिशाएँ नहीं बदलती। विवृतियाँ और ठहराव की स्थितियाँ संभव हैं परन्तु यदि मनुष्य अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से उचित सन्तुलन के साथ विकासशील है, तो उसको सर्जनात्मक मनीषा को ब्रमशः आरोहण की दिशा में गतिशील होना ही होगा।

अज्ञेय ने काव्य विवास में एक 'ब्रमिन्' स्तरारोहण का बोध किसी भी सवेदनशील पाठक के लिए सहज ही उपलब्ध हो सकता है। पाण्डित्य जीवन की सड़ाई जैसे सत्र के लिए एक अनिवार्य सड़ाई है, वैसे ही अज्ञेय भी उससे जूझते हैं। परन्तु उसी में उत्पन्न कर वे अन्त तक पैसे नहीं रहते हैं। उचित समय पर उचित मन स्थिति के साथ वे उससे ऊपर भी उठते हैं। इस सत्कार में व्यक्तित्व है, जीवन की सामान्य आवश्यकताएँ हैं, परिवेश का दबाव है। यह सब है। कवि इन सबमें सवेदित होता है। उसके सृजन में भी यह सब स्पन्दित होता है। परन्तु किसी महान कवि के लिए यह सीमा अंतिम सीमा नहीं होती। अज्ञेय भी अपने रचना क्रम में एक बिन्दु पर यह अनुभव करने लगते हैं —

‘यहाँ धुक गई डगर .

उतहना नहीं, मानता हूँ पर

आज वहाँ हूँ जहाँ कभी था—

एक कुहासे की देहरी पर -

बोल रहा है

पार

रूप रूपायमान रूपायित—

पहचाना कुछ : जिधर फिर बढ़ूँ—

धौर, अरीर, सहज, डगमग, दूत, धीरे,

हठ पर,

मन में भर

बधाह ।’^१

अपने सृजन के पथ पर चलते हुए अज्ञेय जिस कुहासे की देहरी पर पहुँचते हैं तथा जहाँ से उस पार उन्हें रूप रूपायमान रूपायित कुछ पहचाना सा दिख रहा है, निश्चय ही उधर की यात्रा उनकी नयी यात्रा है। यह यात्रा नई कविता में नई कविता के लिए समर्थ हो सकती है। विराट् का जो साक्षात्कार अज्ञेय के अगले रचना सापान पर होता है वीणा साक्षात्कार और भी विशद और निर्घातित ढंग से हम नरेश मेहता के काव्य में प्राप्त होता है, विशेष कर उनके परवर्ती काव्य में। इस नयी रहस्य भूमि पर सहे होकर अज्ञेय को जो आध्यात्मिक अनुभूति होती है उसकी अनेक छायाएँ उनके काव्य में हम देखने को मिलती हैं। कहीं उन्हें ‘अग्नि के पार द्वार, खुलते हुए दिखाई देते हैं, और

वहीं द्वार के पार आगन ।' कभी 'भवन के ओर-छोर सभी मिले हुए दिखाई देने हैं, उन्ही में भवन छो जाता है' । कभी उन्हें 'असीम महाशून्य का शिविर ऊपर छाता हुआ प्रतीत होता है' कभी 'नीचे महामौन की सरिता दिग्विहीन बहती हुई दिखाई पड़ती है ।' उन्हें लगता है :

‘यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने हो से
तुलती रहती है ।
रूपों में एक अल्प सदा सिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर पंथ में ओझल
अपौरुषेय मिलता है ।
मैं एक शिविर का प्रहरी भोर जगा
अपने को मौन नहीं के लम्बा दिनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुत्तर, सब छन्दों में
उग एक अनिर्धन, छन्द-मुक्त को
गाता हूँ ।”^१

अज्ञेय की यह अतीन्द्रिय अनुभूति हँसकर उड़ा देने की बात नहीं है । ब्रह्माण्ड का अनन्त विस्तार, सागर की उताल तरंगें, पर्वत शिखरों का वैभव-विस्तार यह सब कुछ, कहीं न-कहीं एक बिन्दु पर मनुष्य को उस ईश्वरत्व की ओर उन्मुख करता ही है जिसकी वह परिभाषा तो नहीं दे सकता, किन्तु जिसका साक्षात्कार अपनी चेतना की भीतरी पत्तों में वह कभी-न-कभी करता है । सुनते हैं प्रमुख विज्ञानवेत्ता सर आइज़क न्यूटन जो जीवन भर नास्तिक रहे अपनी मृत्यु की घड़ियों में यह आत्म-स्वीकृति करने में हिचकिचाए नहीं कि उनके द्वारा छोड़े और पाये गये सिद्धान्त-रत्न रहस्य-गर्भ सागर की तरंगों द्वारा फेंके गये किनारे के कुछ सीपी-घोड़े हैं । समुद्र तो अपने गर्भ में अनंत रत्नों को छिपाये अथाह पड़ा हुआ है । इसीलिए अज्ञेय जब कहते हैं

“अकेला :

यह तेजोमय है जहाँ,
बीठ येसस झुक जाती है,
घाणो तो बया, सप्ताटे तक की गूँज
यहाँ चुक जातो है।”^१

अथवा

“द्वार के आगे
और द्वार :
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उनके पार—
किन्तु हर द्वार
मिलेगा आलोक,
भरेगी रस-धारा।”^२

तो यह रहस्यमयी अनुभूति चाहे बहुत से पाठकों को पलायन लगे या मृग-मरीचिका प्रतीत हो, परन्तु जो विशिष्ट और विराट् चेतना के प्रति खुली दृष्टि वाले पाठक हैं तथा जो जीवन की पारिषद वास्तविकताओं को ही अन्तिम सत्य नहीं मानते, उन्हें ऐसी अभिव्यक्तियाँ बहुत गहराई से छूती हैं। श्री नरेश मेहता के सद्यः प्रकाशित काव्य-संकलन ‘उत्सवा’ में भी ऐसे विराट् से साक्षात्कार की अनेक रचनाएँ हैं। जीवन केवल धरती पर खड़ा जीवन नहीं है। हमारी चेतना का संचरण अनेक आयामों में होता है।

केवल ब्रह्माण्ड के विस्तार की परिकल्पना को ही ग्रहण करना चाहे तो भी बुद्धि चौंधिया जाती है। घड़ी के एक सेकेंड में प्रकाश की गति एक लाख छिपासी हजार मील की है। हमारे ब्रह्माण्ड में ऐसे पिण्डों की परिकल्पना की गई है जहाँ से प्रकाश चलकर अभी हमारी पृथ्वी तक पहुँचा ही नहीं है। फिर कौन मापेगा इस ब्रह्माण्ड के विस्तार को? दूसरी ओर एक परमाणु जिसे हम शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र द्वारा भी देखने में सफल नहीं हो सकते अपने भीतर इतनी सश्लिष्ट संरचना से युक्त है कि उसका ठीक-ठीक विश्लेषण सम्भव नहीं हो पाता। इलेक्ट्रान, प्रोटान, पाजिट्रान, न्यूट्रान आदि जिन परमाणविक कणों की परिकल्पना की गई है, उनकी संरचना और उससे जुड़ी हुई विद्युत-चुम्बकीय

१. अकेला और अकेली—आँखों के पार द्वार

२. द्वार हीन द्वार—अरो ओ करुणा प्रभामय

ऊर्जा का बोध आज के आधुनिक बोध-युक्त कवि के मन में जो भाव उत्पन्न करता है, वह अन्ततः किसी न किसी स्तर पर आत्म-समर्पण और आत्म-विसर्जन की भूमि पर ले जाकर खड़ा कर देता है। आधुनिक बुद्धिवाद की चरम परिणति इस वैष्णवी मन स्थिति में होती है। अज्ञेय और नरेश मेहता दोनों इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यह पार्थिवता से पलायन नहीं करना पार्थिवता से चलकर जीवन-जगत के उस आयाम तक संचरण है जिसके बिना यात्रा निश्चय ही अधूरी रह जाती है। इसीलिए 'असाध्यबीणा' में केशवम्बली कहता है

“मैं नहीं, नहीं। मैं वहीं नहीं !

ओ रे तह ! ओ बन !

ओ स्वर सम्भार !

मादमय संसृति !

ओ रस प्लावन ! \

मुझे क्षमा कर-भूल अकिंचनता को मेरी—

मुझे ओट दे—ढँक ले—छा से—

ओ शरण्य !

मेरे सुगैपन को तेरे स्वर-सागर का उबार बुझा ले ।

आ, मुझे भुला,

तू उतर धीन के तारों में

अपने से गा

अपने को गा—”

अपने को पूर्णतः समर्पित और विसर्जित करने के बाद वह देखता है कि बीणा क्षणशून्य उठती है, उसके तारों से स्वर-शिशु किलक उठते हैं। उसके संगीत में सारा ससार डूबने उतराने लगता है। 'सब अलग-अलग एकाकी पार तरे।' साधना की इस सिद्धि व पश्चात् केशवम्बली की यह आत्मस्वीकृति महत्त्वपूर्ण है

“धेय नहीं कुछ मेरा

मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—

बीणा क माध्यम मैं अपने को मैंने

सब कुछ वो सौंप दिया था—

मुना आपने जो वह मेरा नहीं,

न बीणा का था

वह तो सब कुछ की तयता थी—

महाशून्य वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्द-हीन

सब में गाता है।”^१

यही है आज अज्ञेय की मनःस्थिति ! आज वे यह भग्नने में किसी प्रकार का सकोच नहीं करते कि कुछ है जिसमें वे तिरस्ते हैं ! जबकि आस-पास न जाने क्या-क्या सिरता है जिसे देख-देख वे मानो कभी-कभी किरते हैं ।

“वे जो डूब रहे हैं धीरे-धीरे

पावों के लण्डहर हैं ।

अब मैं नहीं जानता किधर द्वार है

किधर आगन, लिङ्कियाँ, झरोखें,”^२

अज्ञेय आज उस वैष्णव भूमि पर खड़े प्रतीत होते हैं जहाँ उपनिषद्कार खड़ा था । अज्ञेय की वैयक्तिकता का यह आयास हिन्दी के बहुत से पाठकों ‘को कुछ अजीब लग सकता है क्योंकि उस भूमि से उनका थोड़ा भी साक्षात्कार नहीं है, पर है वह एक गहरी सच्चाई । वहाँ पहुँचकर मृत्यु और जीवन का अन्तर उनके लिए एक नये बोध से जुड़ जाता है । मृत्यु, मृत्यु नहीं रहती ‘जाना’ मात्र बन जाती है ।

“जाना और जीना

जीना और जाना :

न यह गहरी बात है कि इनमें होड़ है

न यही कि इनमें तोड़ है ।

गहरी बात यह कि दोनों के बीच

एक क्षण है कहीं, एक मोड़ है

जिस पर एक स्वयंसिद्ध जोड़ है, और वहाँ

उस पर हो

भान्य है

यह गीत जो मरेगा नहीं।”^३

१. ‘असाध्यवीणा’—आगन के पार द्वार

२. जिसमें मैं तिरस्ता हूँ—कितनी नावों में कितनी बार ।

३. मोड़ पर का गीत—क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृष्ठ २ ।

‘अज्ञेय’ जाने और ‘जीने’ के उसी स्वयंसिद्ध जोड़ पर स्थित होकर अपने अमर गीत गा रहे हैं।

(छ) अज्ञेय का भाषिक व्यक्तित्व

“रचनाकार जिस समय रचना करता है उस समय उसे न तो भाषा की चिन्ता होती है—या कि न तो भाषा के मामले में किसी चिन्ता का बोध होता है—और न ही इस बात को लेकर व्यस्त होता है कि उसकी भाषा में रचनात्मकता हो। जो वह लिखता है और जिस भाषा में वह लिखता है उसमें रचनात्मकता है या नहीं, इसका विचार दूसरे करते हैं और रचना हो जाने के बाद करते हैं।”^१

अज्ञेय का भाषा के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण जो उन्होंने इधर की कृति ‘अद्यतन’ में व्यक्त किया है, बहुतेको विचित्र लग सकता है, क्योंकि अज्ञेय ने जीवन भर भाषा-साधना की है तथा अच्छी भाषा के सम्मान की ही बात नहीं की है, वरन् उस अपने आप में एक सिद्धि तक माना है। वास्तव में इन दोनों बातों में कहीं अन्तर्विरोध नहीं है। अज्ञेय ने भाषा के प्रश्न को बहुत गहराई में अनुभव किया है। उनके लिए भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं है, यह रचनाकार के व्यक्तित्व का पर्याय है। उन्होंने भाषा को अनुभव में तलाश किया है। इसीलिए वे भाषा की नहीं वरन् शब्द की बात करते हैं। शब्द केवल सोचने से नहीं मिलते, अनुभव के अनगिन व्यापारों में अनुभूति से साक्षात्कार के समय सहज ही आ खड़े होते हैं। इसीलिए लेखक नित नूतन अनुभवों के साथ अपने को जोड़ता रहता है। शब्दों को बेघरता रहता है, उनका सधान करता रहता है। जब वह रचना के क्षण में गुजरता है तो शब्द स्वतः आ उपस्थित होते हैं। यों यह बात इतनी सरल नहीं है जैसी कही जा रही है। इसके पीछे जीवन भर की साधना और जीवन्त अनुभवों के बीच अपनी संवेदनशीलता के साथ रचनोन्मुख रहते हुए शब्द को अनुभूति से जोड़ने का सतत प्रयास आवश्यक है। तभी वह स्थिति प्राप्त होती है, जिसकी ओर अज्ञेय ने ऊपर संकेत किया है। इस साधना के बाद भी कवि को बराबर यह अनुभव होता रहता है कि सत्य के साक्षात्कार के समय, रचना के क्षण में, शब्द हाथों से फिसले जा रहे हैं। शब्द है तो सत्य नहीं, सत्य से साक्षात्कार है तो शब्द नहीं। कवि को लगता है कि ये दोनों सदा एक-दूसरे से तन कर रहते हैं।

“ये दोनों जो

सदा एक दूसरे से तन कर रहते हैं,

कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में

इन्हें मिला दूँ—

दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।”^१

अज्ञेय ने जीवन में लगातार शब्द और सत्य को मिलाने की साधना की है। उनके बीच की दीवार को विस्फोटक से उड़ा कर या अनदेखे उसमें में घुस जाकर उन्हें आमने-सामने खड़ा किया है।

अज्ञेय ने यह बल देकर और बार-बार कहा है कि उन्हें भाषा से नहीं शब्दों से सरोकार है। इस मान्यता के पीछे क्या दृष्टि है, उसे भी जानना अज्ञेय के व्यक्तित्व को समझने के लिए अनिवार्य है। समाज जैसे उनके लिए जीवन्त व्यक्तियों का सघट्ट है, व्यक्ति को चिन्ता करते हुए ही जैसे वे समाज को स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार शब्द ही उनके अनुभव को रूपांकित करते हैं। भाषा शब्दों से स्वयं बन जाती है। व्यक्ति की चिन्ता करने के बाद अलग से समाज की चिन्ता व्यर्थ है, उसी प्रकार शब्द की चिन्ता के बाद अलग से भाषा की चिन्ता का कोई अर्थ नहीं। ये शब्द ही अज्ञेय की सर्जना के वाहक हैं। उन्होंने कहा है :

“उदाहरण के लिए मैं कह सकता हूँ कि सर्वक कवि का सरोकार भाषा से नहीं, शब्दों से होता है और रचनात्मक प्रयोग वास्तव में भाषा का नहीं, शब्द का प्रयोग है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि सम्प्रेषण रचना में निहित है, उसका अनिवार्य अंग है।”^२

छायावादी यदि जहाँ शब्दों की अर्जित शक्ति को ही अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए उनका प्रयोग करते थे, वहाँ अज्ञेय ने शब्द प्रयोग में सर्जनात्मकता को महत्व दिया तथा अपने प्रयोग के ही द्वारा शब्दों में अनेक अर्थ-छायाओं की झलक दिखाने का रचनात्मक प्रयास किया।

वास्तव में अज्ञेय की भाषा की रचनात्मकता तथा उनके शब्द-सन्धान की पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के साथ उनके लगाव को गहराई से समझा जाय। यह ठीक है कि उन्होंने पुराने प्रतीकों को छोड़ा तथा नये प्रतीकों को प्रस्तुत किया। तत्सम प्रयोगों के स्थान पर अपनी

१. ‘शब्द और गाय’—‘अरी ओ वरुणा प्रभामय’—अज्ञेय, पृ० १६।

२. ‘अद्यतन’—अज्ञेय, पृ० ५६।

काव्य-भाषा में तद्भव शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थों में गूँज-अनुगूँज पैदा की। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'दुख सत्रको माँजता है।' में 'माँजना' शब्द का उदाहरण देते हुए बताया है कि इसमें वितनी-वितनी अर्थ-छायाएँ एक साथ झट्टत हो जाती हैं, निखार, चमक, परिवार, निर्मलता, आग में तप कर खरा और निष्कलुष होना आदि जो किसी तत्सम प्रयोग द्वारा सम्भव नहीं था। तद्भव शब्दों के प्रयोग पर डा० चतुर्वेदी ने विस्तार से विचार किया है तथा अज्ञेय की काव्य भाषा की शक्ति या प्रमुख स्रोत तद्भव शब्दों के प्रयोग को माना है। उन्होंने तद्भव शब्दावली को लोक-शब्दावली से भिन्न बताते हुए उनमें खुलेपन की बात को रेखांकित किया है जब कि साक जीवन के शब्द किन्हीं विशिष्ट सन्दर्भों से बंधे रहते हैं। डा० चतुर्वेदी की दृष्टि में 'तद्भवा का इस्तेमान फजिना और जीवन को परस्पर निकट लाने की प्रक्रिया है, मूलभूत उपकरणों से ही शक्ति ग्रहण करने का यत्न है।'^१

डा० चतुर्वेदी ने अज्ञेय की गैररोमांटिक कृति से भी तद्भव शब्दावली में मेल बैठाने की बात कही है क्योंकि तद्भव शब्दावली की प्रकृति मूलतः सम-तुलित होती है तथा राग और आवेग या किसी अतिरजना को विवृत्त नहीं करती। इन सारी स्थापनाओं से बहुत दूर तब सहमत होते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा कि अज्ञेय का शब्द-प्रयोग अथवा भाषिक व्यक्तित्व, तद्भव, तत्सम एवं लोक शब्दावली की परिधिओं को तोड़ता हुआ अपनी रचनात्मकता में इन सबका सश्लिष्ट प्रयोग करता है। अज्ञेय की समग्र रूप से सघटित कविताओं में से किसी एक को उदाहरण रूप से देख सकने है। 'अरी ओ कहना प्रभामय' की कविता 'नये कवि से' की इन पक्तियों को देखें—

'मेरी लोज

महीं थी उस मिट्टी की

जिसको जब चाहूँ मैं रोदूँ मेरी आँखें

उलझो थीं उस तेजोमय प्रभा पु ज से

जिससे भरता कण-कण उस मिट्टी को

कर देता था कभी स्वर्ण तो कभी शस्त्र,

कभी जीव तो कभी जीव्य,

अनुक्षण नव-भव अकुर-स्फोटित,

नव रूपायित'

तत्समता से लदी हुई ये काव्य-पक्तियाँ कहीं भी अपनी रचनात्मकता में कोई कसर नहीं रखती ।

इसी कविता में 'रजित', 'दीप्त', 'हिरण्यमय', 'रहस्यवेष्टित', 'प्रभा गर्भ' के साथ साथ 'उड़ा', 'भटका', 'रेंगा', 'फिसला', 'तकना', 'रीदा' जैसे शब्दों का प्रयोग है । सर्जना के एक ही दौर में तत्सम एवं तद्भव शब्दों का इतने प्रचुर परिमाण में एक साथ प्रयोग और फिर परिणति में एक समग्र रूप से संचित कविता का प्रणयन जिस सत्य की ओर पाठक की दृष्टि खींचता है वह है कवि का जीवन के साथ एक विशिष्ट प्रकार का सगाव, जिसके पीछे एक सुसंस्कृत, गहन अध्ययन से युक्त व्यक्तित्व है जो जीवन के हर क्षेत्र में लगातार अपनी सृजनात्मक मनीषा के साथ यायावरी कर रहा है । अज्ञेय की सर्वोपरि विशिष्टता है उनकी सर्जनात्मकता तथा उसके साथ जिन्दगी से भरपूर साक्षात्कार । उसी प्रक्रिया में वे शब्दों की तलाश जारी रखते हैं । तलाश ही नहीं, उनकी तराश उनमें नये अर्थ भरने की यातनामयी कोशिश । यातनामयी इसलिए कि सर्जना की प्रक्रिया सदा यातना से भरी होती है । अज्ञेय ने कभी भी वाक्चातुरी को महत्त्व नहीं दिया ।

"फिर भी निरी वाक्चातुरी मेरे निकट कोई बड़ी बात नहीं है और बात-बात में बहुत कुछ कहते जान पड़ने पर भी कुछ न कहने की कला को मैं बहुत आदर की वस्तु नहीं मानता । वह भाषा की मदारीगिरी है और मदारी का समाशा देखने में क्षण भर रम जाना एक बात है, उसे कला के सिंहासन पर बिठाना दूसरी बात ।"^१

"मैं वहाँ हूँ" शीर्षक कविता अज्ञेय की शब्द-खोजी वृत्ति का एक अच्छा उदाहरण है :

“यह जो कचरा ढोता है,
यह जो भल्लो लिये फिरता है और बेघरा
घूरे पर सोता है,
यह जो गदहे हाँकता है,
यह जो तन्दूर सोंकता है,
यह जो बीचड़ उनीचती है,
यह जो मनिषार सजाती है,

यह जो कन्धे पर छूटियों की पोटली लिए—

गली गली भाँकती है,

यह जो दूसरो का उतारन फाँचती है,

यह जो रङ्गी बटोरता है

यह जो पापड़ बेचता है, बीड़ी सपेटता है—

घकं फूटता है,

घोकती फूँकता है; कसई मलाता है, रेड्डी ठेकता है,

घोंक लोपता है, घासन माँजता है, ईंटे उछालता है,

घई घुनता है, गारा सानता है, छटिया घुनता है,

मशक से सड़क सोंचता है ;

रिक्शा में अपना प्रतिरूप सादे लोंचता है,"^१

ऊपर की पक्तियों में उन मानव रूपों का दर्शन होता है जो जीवन के व्यापार में अपने श्रम की शिखा जलाते हुए समाज के रथ को आगे बढ़ाते हैं। कवि का उनसे गहरा तादात्म्य है। वह केवल उन्हें उन व्यापारों में रत देखने वाला मूक दर्शक नहीं है। परन्तु मनसा उनके साथ उन व्यापारों में पूरी सन्चार्य से लगा हुआ उनका सहभोक्ता है। वही उसे अनुभूति भी मिलती है और शब्द भी तथा रचना की प्रेरणा भी। चूँकि अज्ञेय का अध्ययन भारतीय आर्य ग्रन्थों से लेकर संपूर्ण आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत गहरा है, अतः रचनात्मक क्षेत्रों में सम्प्रेषण की माँग के अनुसार उनके पास सहज ही उचित शब्द आ उपस्थित होते हैं। वे तत्सम, तद्भव, लोक-भाषा के अथवा सर्वथा नये व्यक्तित्व वाले पुराने शब्द कोई भी हो सकते हैं। उनमें सृजन की नई कान्ति होती है, नई अर्थवत्ता होती है। अज्ञेय शब्दों के अहेरी भी हैं, सन्धाता भी हैं, स्रष्टा भी हैं।

शब्द और भाषा की सीमा भी वे जानते हैं तथा उन पर काफी गहराई से चिन्तन करते हैं। साथ ही उस सीमा को जानते हुए भी अपनी सृजन-शक्ति का भरपूर उपयोग शब्दों के माध्यम से कर लेना उनका सध्य रहा है। उन्होंने लिखा है :

‘किसी भी कला-माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है, उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है, संस्कार-भ्रष्ट करना है, उसका वलगरादर्शन है। कवि का उद्देश्य केवल शब्द की निहित सत्ता का

पूरा उपयोग करना नहीं है बल्कि उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है।^१

बहना नहीं होगा कि अज्ञेय ने अपने कला-माध्यम का पूरा उपयोग ही नहीं किया है, वरन् सही अर्थों में उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार किया है।

वाक्य-भाषा के सन्निध में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि कविता की भाषा इकहरी नहीं होती। उसमें अनेक स्तर होते हैं। कवि के लिए उन्होंने लिखा है—

‘कविता में आकर वह एक साथ ही नम्रचर, जलचर और यलचर हो जाता है—ठोस धरती पर चलते हुए वह साथ-साथ समुद्र में तैरता भी चलता है बल्कि कभी-कभी अथाह सागर में गोते भी लगाता चलता है।’^२

ऐसी स्थिति में जहाँ पाठक को कविता का एक निश्चित भाव ग्रहण कर पाने में कठिनाई होती है, वहीं उसमें अनेक भावों की परिवर्त्यना करने की छूट का आनन्द भी निहित होता है।

‘इत्यलम्’ की कुछ कविताओं से और सही अर्थों में ‘हरी घास पर क्षण भर’ से अज्ञेय की वाक्य भाषा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ दिखलाई पड़ने लगती है। अमुखर नारियाँ, धूलभरे शिशु, ओस नम फूल, स्तब्ध लयवद्ध भौरा, टका सा अघर में, जैसे बिम्ब हमें अपनी नई आभा से प्रभावित करते हैं। ‘अमुखर नारियाँ’ के प्रयोग के साथ ही संवेदनशील पाठक के सामने अनेक जीवन्त चित्र सामने आ खड़े होते हैं। नारी के लिए कितने कितने विशेषण प्रयोग में आ चुके हैं। पूरा छायावादी काव्य उनमें भरा पड़ा है। पर एक शब्द ‘अमुखर’ ने नारी के व्यक्तित्व का एक नया रूप जैसे पाठक के सामने प्रस्तुत किया है, जालीन, पीठा सहती हुई, परन्तु दीख को अपने भीतर सहज रूप से संजोये हुए शान्त नारी का चित्र।

‘हरी घास पर क्षण भर’ की कविता ‘कवि हुआ क्या फिर’ में इन पत्तियों का देवें—

‘गुनो कवि ! भावनाएँ नहीं हैं सोता
भावनाएँ साद हैं केवल ।

जरा उनकी दवा रखो'
जरा-सा और पकने दो
ताने और तनने दो
अंधेरी तहो की पुट में पिघलने और
पघने दो

रिसने और रचने दो—

दि उनका सार बनकर चेतना की धरा को
कुछ उर्वरा कर दे,"

इन पक्तियों में अज्ञेय की भाषा एक नये व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत करती है जो 'इत्यलम्' तक की कविताओं में अनुपलब्ध है। न केवल इस काव्य-भाषा की मणिमा नई है यरन् सारा सघटन ही नये प्रकार का है जिसमें एक ताजगी तथा विशिष्ट सम्प्रेषण-क्षमता है। 'पहला बोंगरा' में जहाँ दुख द्वारा माँजे जाने का उल्लेख है जिसने विशिष्ट सौन्दर्य की ओर डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने संकेत किया है, वही उसके आगे के अंश में 'धरा ललकी, उठी, बिजरी हवा में घास सोधी मुग्ध मिट्टी की' जैसे चित्र है जिनमें अज्ञेय का जीवन से निकट परिचय पूरी ताजगी के साथ दृष्टिगोचर होता है।

'कलगी बाजरे की' कविता में अज्ञेय के भाषिक व्यक्तित्व का नया आयाम पूरे वेग से सामने आता है।

'अगर मैं तुम्हो
ललाती सँभ के नभ की अकेली तारिका
थक नहीं कहता,
या शरब के भीर की नीहार-न्हायो कुई,
दटकी कली चम्पे की
धरीरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उबला या कि—सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।''

इन काव्य पक्तियों की इतनी अधिक चर्चा हुई है कि अब और इन पर प्रकाश डालने पर प्रयास उचित नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि अज्ञेय ने बहुत जाग-

रूढ़ता के साथ काव्य-भाषा के नये आयामों का उद्घाटन शुरू कर दिया था। नये बिम्ब, नये प्रतीक, नये शब्द प्रयोग तथा संपूर्णतः नयी रचनात्मक भाषा। इस भाषा में सब-कुछ नया है। इसका Total Impact पुरानी कविताओं से सर्वथा भिन्न और गहरा है। जो पूर्ण विराम इसमें प्रयुक्त हुए हैं, आगे की काव्य-यात्रा में अज्ञेय उनसे एक हृद तक मुक्त हो गये हैं।

‘बावरा अहेरी’ तक आते-आते अज्ञेय की कविता में तदभव शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढनी शुरू होती है, परन्तु ‘बावरा अहेरी’ की अनेक कवितायें इस बात के साक्ष्य में प्रस्तुत की जा सकती हैं कि अज्ञेय जिस सत्य का साक्षात् करते हैं उसे अभिव्यक्त करने में उन्हें चारों तरफ से शब्द प्राप्त होते हैं। पहली कविता ‘आज तुम शब्द न दो’ के इस अंश को देखा जा सकता है :

‘आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो ऋष-भेरी तिला—
लज्जों के गरिष्ठ पुत्र
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो
तुम्हारे रग्न रग्न से
तुम्हीं को रस बेता हुआ
फूट कर मैं बहूँगा।’

इन पंक्तियों को कई दृष्टियों से समझना होगा। जहाँ एक ओर इसमें अज्ञेय की अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच का तनाव शकृत होता है, वही दूसरी ओर शब्दों के बीच अन्तराल का भी इसमें सहारा लिया गया है। तत्सम शब्दों के द्वारा ही कवि यहाँ अपनी मन स्थिति को व्यक्त कर पाता है।

जहाँ अज्ञेय ने अपनी मध्यवर्ती कविताओं में इस बात पर बल दिया है कि अनुभूति की सच्चाई को अभिव्यक्ति देने की उनकी छटपटाहट में कभी-कभी शब्द छूट-पूट जाते हैं अथवा अर्थ-भार में उनकी जिल्जी पट भी जाती है अथवा अन्तराल, विराम या मौन का सहारा लेना पड़ता है वही आगे चलकर उन्हें समझने लगता है कि वे जाने हुए सत्य एवं व्यक्त किए सत्य में निश्चिन्त ही एवं अन्तर रचना पड़ता है। इनके बीच के तनाव में से ही लेखन की प्रेरणा बनती है। उन्हीं के शब्दों में—साधना की एक अन्तर्हीन यात्रा अज्ञेय ने शुरू की। अज्ञेय की प्रारम्भिक काव्य भाषा बच्ची थी। चाहे वे इतिवृत्तात्मक, छायावादी अथवा सोवभाषा में ने जिसे अपनाया

इस द्विधा में कुछ समय अटके रहे हो अथवा उनमें इन सबों से मुक्त होकर नई भाषा की तलाश की छटपटाहट रही हो या तब तक भाषा के आत्यन्तिक महत्त्व के प्रति उनकी जागरूकता न रही हो। जो हो, परन्तु अज्ञेय की भाषा प्रारम्भ में उतना—प्रभावित नहीं करती। निराला की 'जुही की कली' ने जिस प्रकार पाठकों को प्रारम्भ में ही उद्वेलित कर दिया था और अपनी ताड़नी और नयनेन से एक बरबडर-सा खड़ा कर दिया था, ऐसा कुछ अज्ञेय की प्रारम्भिक काव्य-भाषा में नहीं घटित हो सका।

परन्तु धीरे-धीरे अज्ञेय की काव्य-भाषा में एक विचित्र रचाव आता गया। शब्द की उनकी खोज तो बस ही रही थी, जैसा डा० चतुर्वेदी ने कहा है, काव्य भाषा के प्रसंग में अज्ञेय की जागरूकता वैचारिक और रचनारमक दोनों स्तरों पर दिखाई देती है।^१ 'नदी के द्वीप' कविता की भाषा में जो प्रवाह, वैचारिक तत्त्व, शब्द-प्रयोग एक प्रतीक हैं, वे अपनी शक्ति से पाठक को अभिभूत कर लेते हैं

'किन्तु हम हैं द्वीप

हम धारा नहीं हैं।

स्विर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं—

स्रोतस्विनी के

किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।

हम बहेग तो रहेंगे ही नहीं।

पैर उलझेंगे। प्लवन होगा। डहेगे।—

सहेगे। बह जायेंगे।'

'शायद कला मात्र में जो शक्ति सृजन की प्रेरणा बनती है वह यही तनाव है—जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच का तनाव। लेखन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है।'^२

इसस लगता है कि अपनी रचना यात्रा में अज्ञेय ने वाद में यह साफ अनु-अनुभव किया है कि कवि जिस सत्य को देखता है, हूबहू उसे वैसे ही पाठक के समक्ष प्रस्तुत नहीं करना चाहता। बीच में उसका मूडबन आ जाता है।

१ 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या'—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ ३८।

२ 'आलवाल', पृष्ठ १०।

अज्ञेय की काव्य-भाषा पर विचार करते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अन्त में मौन के विभावन पर विस्तार और गहराई से विचार किया है। अज्ञेय ने अपनी अनेक कविताओं में मौन की सार्थकता पर बल दिया है

‘अच्छा सार्थक मौन

मुघर मोरन्ध्र मृषा मि ।’

डा० चतुर्वेदी ने लिखा है -

‘मौन का विभावन दो स्तरों पर समझा जा सकता है। अर्पित होने की मन स्थिति एक पक्ष है, और साकेतिक अभिव्यक्ति दूसरा। अज्ञेय की कविताओं में मौन के ये दोनों रूप सघटन पा सके हैं।’^१

अज्ञेय ने एक स्थल पर लिखा है कि ‘मौन भी अभिव्यजना है।’ इसमें शक नहीं कि व्यक्ति की मूक दृष्टि बहुत कुछ कहती है, परन्तु कवि के मौन को एक सीमा तक ही अभिव्यजना का माध्यम माना जा सकता है और इस दृष्टि से अज्ञेय ने मितकथन, साकेतिकता एवं अन्तराल का जो उपयोग अपनी कविताओं में किया है वह आदर्श स्थिति कही जा सकती है।

अज्ञेय की संवेदना के साथ उनकी भाषा का जो निरन्तर परिष्कार हुआ है उसके पीछे उनकी साधना तो है ही, शब्द में अभिव्यक्त उनकी वैयक्तिकता अथवा उनकी भाषा के साथ उनका लगाव बहुत महत्व का है। उन्होंने शब्द के साथ अपनी अभिव्यजना के संयोग की आत्यन्तिक लगाव के साथ अनेक कविताओं में व्यक्त किया है। वही उन्होंने उसे अनुभव की भद्दी में तपे हुए अन्तर्दृष्टि के वण-दो वण के रूप में व्यक्त किया है और वही पर कहा है :

“घाहे

तकने में आँखें फूट जायें,

घाहे

अर्थ भार से तन भर भाषा की भिस्ती फट जाये,

घाहे

परिवर्ति को गहरे उकेरते

संवेदन का प्याला टूट जाये।”^२

कवि सदा उस आलोक-स्फुरण की प्रतीक्षा में रहना है जिसकी उपस्थिति में वह शब्द और सत्य को एकाकार कर सके।

१. ‘अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या’, पृष्ठ ६८।

२. “हम इन्हीं नहीं हैं”—अरी ओ करना प्रभावय, पृष्ठ १६।

- "यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी
मिलता

दोनों जब सब सम्मुख आते ही रहते हैं ।

प्रश्न यही रहता है :

दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रू

में रुक, बैठे, उनके अनदेखे

उसमें संध सगा हूँ

या भर कर विस्फोटक

उसे उड़ा हूँ ।"१

यह प्रयास अपनी पूरी रचनात्मकता के साथ अक्षेप से :
इसीलिए वे कवि के लिए सम्बन्धी राह की बात करते हैं ।
कोई पगडण्डी नहीं है । चूंकि वे सदा बीहड़ों में चले हैं,
धून से लप-पप राहें बनाते हुए चले हैं, अतः उन्हें पगडण्डी
अवधि होती है ।

शब्दों के साथ जूझने की उनकी साधना जिन्दगी की यह
अनुभूतियों के बीच लगातार चलती रहती है । उन्हीं के शब्द

"जिन्दगी करती रही नीरव इशारे :

हम धनी थे शब्द के ।

शब्द ईश्वर है, इसी से यह रहस्य है;

शब्द अपने आप में इति है ।"

हमे यह मोह अब छलता नहीं था ।

शब्द-रत्नों की लड़ी हम गुँथ कर --

माता पिताना चाहते थे

नये रूपाकार को,

और हमने यही जाना था

कि रूपाकार ही तो सार है ।

+ + +

किन्तु रूपाकार

चोला है

किसी संकेत शब्दातीत का
जिन्दगी के किसी गहरे इशारे का
शब्द :

रूपाकार :

फिर संकेत—

ये हर मोड़ पर बिसरे हुए संकेत—

अनगिनती इशारे जिन्दगी के

ओट में जिनकी छिपा है

अर्थ ।

हाथ, कितने मोह की कितनी धीधारे भेदने की

पूर्य उसके शब्द सलके,

अक भेटें अर्थ को ।

क्या हमारे हाथ में वह मन्त्र होगा,

हम इन्हें सपृक्त कर दें ?

अर्थ दो अर्थ दो ।

मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो ।'^१

इस कविता में इम्नित संकेत अज्ञेय के ऊपर लगाये जानेवाले इस आरोप की ओर दृष्टि खींचते हैं कि अज्ञेय तो रूपाकारवादी है, फार्मलिस्ट हैं, सार तत्त्व से उनका विशेष प्रयोजन नहीं है। यहाँ यह बात पूरी गहराई से कही जा सकती है कि अज्ञेय की रचना उस बिन्दु पर सघटित होती है जहाँ फार्म और कण्टेंट की बहस असंगत हो जाती है। उसमें अनुभूति की सम्पृक्ति के साथ ही तदनुकूल रूपाकार की प्रतिष्ठा पूरी सच्चाई और बसात्मकता के साथ होती है। उनकी श्रेष्ठ कविताओं में शब्द और अर्थ की पूर्ण संगति सहज रूप से हो जाती है। 'असाध्य बीणा' इसका एक उदाहरण है।

डा० चतुर्वेदी ने अज्ञेय की काव्य-भाषा पर विचार करते हुए एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है कि अज्ञेय की कविता जब तक तुम ने धेरे में रखी उसे सही परिणति नहीं मिल 'सकी'। मुक्त कविताओं की प्रकृति ही उनके स्वभाव के अनुकूल पड़ती थी। यह निष्कर्ष अज्ञेय की काव्य-यात्रा को देखते हुए पूरी तौर पर ठीक लगता है। इस संबंध में एक बात रेखांकित करने की है कि अज्ञेय अपनी सारी मुक्त कविताओं में (और मुक्त कवितायें ही उन्होंने

‘१३० : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

प्रायः ‘हरी घास पर लक्ष्म भर’ के बाद लिखी हैं) लय पर बहुत बल देते हैं। उनकी कविता में लय (Rhythm) की पूर्ण प्रतिष्ठा है। निराला के मुक्त काव्य में लय की जो प्राण प्रतिष्ठा हुई, उसे अज्ञेय ने पूरी गहराई से अपनाया। ‘इत्यन्तम्’ की कविता ‘जन्म दिवस’ में उस लय की शुरुआत हम देख सकते हैं।

अमृतर नारियाँ,
धूल भरे सिन्धु
लग,
धोस नभे फूल
गन्ध
मिट्टी पर पहले असाढ़ के अमाने बारि-बिन्दु की
कोटरों से भाँसती गिलहरी,
स्तब्ध, लयबद्ध भौरा
टँका सा अवर मे।

इन पक्तियों में प्रयुक्त शब्दों की अन्य विशेषताओं की चर्चा यहाँ न करके केवल इतना ही कहूँगा कि जिस लय की सृष्टि इन पक्तियों में हुई है, अज्ञेय की परवर्ती कविताओं में वह परिपाक पर पहुँचती चली गई है। आगे इस परिपाक का दर्शन हम उनकी अनेक कविताओं में कर सकते हैं, जैसे

‘बात है
धुक्ती रहेगी
एक दिन चुब जायेगी ही बात !
जब धुक चले तब
उस बिन्दु पर
जो मैं धूँँ
(मैं धूँँगा ही।)
उसको मैं कहूँ—
इस मोह में अब और कब तक रहूँ ?’
अथवा
एक दिन जब
प्यार में

संघर्ष से

आश्रय से, करुणा घृणा से, रोष से,

विद्रोह से, उत्साह से,

निविड सब सचेदनाओं की साधन अनुभूति से

बेधा, बेपिष्ट,

विद्रु जीवन की अनी से—स्वयं अपने प्यार से—

एक दिन जब

हाप । पहली बार ।

जानूँगा कि जीवन

जो कभी हारा नहीं था, हारता ही किसी से जो नहीं

अपने से चला अब हार ।^१

अज्ञेय की लय से झटुत अनेक कवितायें प्रस्तुत की जा सकती हैं। सर्वेश्वर जी की कविताओं के विषय में लिखते हुए उन्होंने लिखा भी है

“आज की कविता धोल चाल की अन्विति माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनास्थितिक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है।”^२

अन्त में पुनः अज्ञेय की काव्य भाषा की उसी विशेषता को रेखांकित करना चाहूँगा कि उनकी खेठ कविताओं में शब्द प्रयोग उस गहरे सघटन की परिणति पर पहुँचे हुए हैं, जहाँ शब्द वहाँ से आये हैं, यह बात उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह जाती, जितनी यह कि वे सब अपनी अन्विति में पूरी अर्थवत्ता एवं व्यञ्जना के साथ रचना को एक समग्रता देते हैं। उदाहरण के लिए यह कविता देखी जा सकती है।

“क्या शिखर की ओर

हुनिवार

जाना ही प्रमाण है

कि शिखर बस एक आयाम है—

किसका आयाम ?

तो शिखर से आगे क्या है ?

स्वाधुनो भूयान्त्वचिरेता प्रप्या —

१. एक दिन जब (इन्द्रधनु रीढ़े हुए थे) ।

२. नई कविता अब दो, पृष्ठ ३८ ।

तो क्या मैं शिखर की ओर दौड़ा हूँ

या शिखर से आगे ?

किसका शिखर ?

महत परमव्यक्तम्

शिखर से आगे क्या है, गजराज ?

अव्यक्तान्तु पुरुष पर :

पाण्डव हिमालय गये थे • पाण्डव—

पर युधिष्ठिर कहाँ गये थे ?

शिखर से आगे क्या है ?”^१

इन पक्तियों में अनुभूति और चिन्तन का विलयन तो हुआ ही है, कवि की भाषा मानी हुई सारी सीमाओं का अतिक्रमण करती है और उसके व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है जो औपनिषदिक सत्कारों से भी जुड़ा हुआ है तथा पर्वत की घनी वनराजियों में विहार करते हुए गजराज की दुर्निवार शिखर-यात्रा भी देखता है। और कौन जाने यह गजराज स्वयं कवि का बेरोक अप्रतिहत निज का व्यक्तित्व ही हो।

“अज्ञेय की रचना प्रक्रिया में भाषा के प्रयोग को काफी दूर तक डॉ० रघुवंश के इस कथन से समझा जा सकता है

“आज के कवि के सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनुभूति की प्रक्रिया का है।नये कवि ने लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति की सारी प्रक्रिया आत्मोपगच्छि के रूप में गृहीत है। समग्र यथार्थ को ग्रहण करने में कवि के व्यक्तित्व की सीमा सामने आती है, क्योंकि अनुभूत सत्य विराट् है।”^२

चूँकि अज्ञेय या व्यक्तित्व विराट् है अतः अभिव्यक्ति की आधार-भूमि भी उतनी ही विराट् है।

●

१ “पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ”, पृष्ठ ७३-७४।

२. “नयी कविता की सगसामयिक भावभूमि”—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य—डॉ० रघुवंश, पृष्ठ १६२-६३।

पाँचवा अध्याय

प्रयोगशील कविता में वैयक्तिकता के अन्य स्वर 'मुक्तिबोध'

'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ हिन्दी काव्य में जो नई धारा प्रयोगवादी कविता के नाम से अभिहित हुई, वही आगे चलकर नई कविता के रूप में परिणत हो जाती है। नई कविता में प्रयोगवादी काव्यधारा के साथ-साथ प्रगतिवादी कही जानेवाली काव्यधारा का भी समावेश हो गया। 'तारसप्तक' के कवियों में अज्ञेय के अतिरिक्त गजानन माधव 'मुक्तिबोध', गिरिजा कुमार माथुर एवं भारत भूषण अग्रवाल के कवि व्यक्तित्व भी बहुत महत्त्व के हैं। 'तारसप्तक' के कवियों में सब से अधिक सघर्षशील व्यक्तित्व मुक्तिबोध का है। उनका संपूर्ण जीवन कुछ निश्चित मूल्यों के लिए सघर्ष की एक कदम और लम्बी कथा है। उन्हीं के शब्दों में—

‘नौकरियाँ पकड़ता छोड़ता रहा। शिक्षक, पत्रकार पुन
शिक्षक, सरकारी और गैर सरकारी भौकरियाँ। निम्न मध्य
वर्गीय जीवन, घाल धक्के, दबा-दाक, जन्म-मृत्यु।’^१

मुक्तिबोध समाज एवं व्यक्ति की समस्याओं को बहुत गहरे स्तरों पर लेनेवाले कवि रहे हैं। इसीलिए उनके मानस को जहाँ एक ओर सौन्दर्य की भूख ने प्रभावित किया है, वही उतनी ही गहराई से विश्व मानव के सुख दुःख ने भी। मुक्तिबोध जहाँ एक ओर अपने अभावों एवं अतृप्तियों से बेचैन होकर संघर्ष करते हुए लड़लुहान हो आते हैं, वही दूसरी ओर अपनी सृजन शीलता को सौन्दर्य के वेष्टन में लपेट कर सारे ससार को सुन्दर-से सुन्दर रचनायें अर्पित करते जाते हैं। जहाँ एक ओर अपने बेपर रहने वाले व्यक्तित्व की पीड़ा से व्यथित हैं, वही दूसरी ओर स्नेह भरी मृदुल थपकियों और शुभकरी चाँदनी में बसी मुस्कानों की स्मृतियों से लदे हुए भी। उनके हृदय की सरिता का वन्यनीर जीवन के तम को सगीत मधुर बनाता चलता है। मुक्ति-बोध ने अपने

१३४ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

व्यक्तित्व का एक ऐसा स्वरूप निर्मित करना चाहा था, जिसके उच्च भाल पर तो विश्व भर का भार हो, किन्तु जिसके अन्तर में निस्सीम प्यार हो।

परन्तु जीवन के विकट वास्तव ने मुक्तिबोध के व्यक्तित्व को आक्रोश और कड़वाहट से भरना शुरू कर दिया। उन्हें लगा कि जीवन विकेंद्रित होता जा रहा है। यह विकेंद्रित व्यक्तित्व अपने गत वैभव पर रो-रो उठना है।

“ये अकेले गीत

हय चुकी जो मर चुकी है आत्मा,

खत्म जो हो हो गई आकाशा,

शक्ति में व्यक्तित्व के खण्डहर

गान कर उठते उसी के गीत।

ये अकेले गीत, स्वर-साय-हीन गीत

भौन से बेचैन, लोचन-हीन गीत”।

इस गीत में मुक्तिबोध के एकाकीपन को साफ देखा जा सकता है। इसमें अन्धी गुफाओं में बेचैन भूतों में व्यथित स्वप्नों का उल्लेख है। कवि स्वीकार करता है कि उसका व्यक्तित्व खण्डहर बन चुका है और साय-साय कर रहा है।

‘मुक्तिबोध’ अपनी काव्य-यात्रा के प्रारम्भिक दौर में कितने स्नेह सूत्रों से बँधे थे, शुभाशसयों उनके हृदय को आलोकित-विलोकित करती रहती थी, उसका एक दिन उनके ही शब्दों में।

‘वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे

अतल-गर्भा भग्न धरती हृदय के निज कूल पर

मृदुस्पर्श कर पहिचान करती, शूद्रतम उस विशद

दीर्घच्छाय श्यामल-काय धरगव वृक्ष की

जिसके तले आश्रित अनेको प्राण,

जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आये, उसभ्र आये”

वास्तव में मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कविताओं में भी उनकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ बड़े सशक्त स्वर में अभिव्यक्त हुई हैं। अपना अन्वेषण, अपने सकल्पों की अभिव्यक्ति, अपने व्यक्तित्व को अनछुई ऊँचाइयों तक पहुँचाने की आकांक्षा, अपने अन्तर और बाहर का द्वन्द्व, अपनी भौतिक सीमा और मानसिक विस्तार के बीच के तनाव को अभिव्यक्त करने की सशक्त क्षमता मुक्तिबोध में रही है।

मुक्तिबोध में एक स्वतंत्र अस्तित्व की भूख भी बहुत गहरी थी 'मुक्तिबोध' को जनवादी और मार्क्सवादी चौखटों से कसने की कोशिश करने वाले सुधी समालोचका को मुक्तिबोध का यह स्वर अच्छी प्रकार देखना-परखना होगा। और इस परीक्षण की प्रक्रिया में उन पर इस प्रकार का निर्णय थोपना भी उचित नहीं है।

"इस तरह मुक्तिबोध अस्तित्ववाद, रहस्यवाद का समन्वय करते हैं^२।" ऐसे निष्कर्ष को मुक्तिबोध के ऊपर थोपते हुए फिर उनसे समन्वय के मुद्दे का स्पष्टीकरण मांगना दुहरा अन्याय है। मुक्तिबोध में सीधी-सादी आत्म-स्वातंत्र्य की एक अदम्य भूख है जो उनकी प्रारम्भिक कविता-या से चलकर 'अग्नेरे' में तक किसी न किसी रूप में सतत प्रवहमान है जिसका प्रमाण ऐसी पक्तियाँ हैं :

“अपनी व्यक्तित्वता के सहारे जो चले हैं प्राण,
उनको कोन देता है
अचल विश्वास का बरदान।
उनको भीम देता है प्रलर आलोक
सुब ही जल
रि जैसे सूर्य”

मुक्तिबोध का यह स्वर अज्ञेय के अत्यन्त निकट है। मुक्तिबोध अपने जीवन-सघर्षों में नितान्त क्षत-विक्षत होते हुए भी अपने सार-तत्त्व को जिसे उन्होंने भयानक वीरानों में धूमकर खोजा था ओझल नहीं होने देते। जहाँ एक ओर उन्हें जीवन का कुम्पतम और कठिनतम दौर झेलना पड़ता है।

‘भैरव्याली गलियों में घूमता है,
तश्के ही, रोज
कोई भीत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का दयाज,
अनजाना कर्ज
माँगता है धुकारे में, प्राणों का मांस।’^३

१. 'तारसप्तक' (द्वितीय स० पृष्ठ ४५)।

२. नयी कविता और अस्तित्ववाद—डा० राम विलास शर्मा—पृ० १२८।

३. तार सप्तक (द्वितीय संस्करण)—आत्मा के भिक्षु मेरे—पृष्ठ ४६।

४ 'एक आत्मवचनम्' 'तार सप्तक' (द्वि० स०) पृ० ७८।

वही दूसरी ओर उन्हें विश्वास है .

“और जब नये-नये मेरे मित्रगण
मेरे पीछे आये हुए मुवा-माल-जन,
परित्री के घन,
सोजता है उनमे ही
छटपटाती हुई मेरी छांह,”

मुक्तिबोध के अन्तरतम मे जो गहरी आस्था और मानवीय चरित्र के उच्चतम आदर्श प्रतिष्ठित थे, वे बार-बार ठोकर खाने पर भी उनसे छूटते नहीं । उनका व्यक्तित्व खँडहर बन जाये, सोचते-सोचते उनके मस्तिष्क की शिरायें फट जायें, परन्तु वे कहीं न कहीं अपने भीतर नितान्त ईमानदार बने रहना चाहते थे । इसका मूल्य उन्हें बहुत अधिक चुकाना पड़ा । कवि जीवन के प्रारम्भ मे ही मुक्तिबोध ने लिखा था ।

“जब कि शकाकुम तृपित मन सोजता
बाहरी मरु मे अमल जल स्रोत है,
क्यों न विद्रोही बनें ये प्राण जो
सतत अन्वेयी सदा प्रद्योत हैं ?”

प्रारम्भ की यह प्रतिज्ञा मुक्तिबोध को सदा याद रहती है । उनके प्राण सधमुच अन्त तक विद्रोही ही बने रहते हैं तथा सतत अन्वेयण मे लीन रहते हैं । मुक्तिबोध अपने काव्य मे अपनी सभावनाओं और अपने व्यक्तित्व के योगदान के विभिन्न स्वरूपों को अनेक ढंग से व्यक्त करते हैं । अपनी वैयक्तिक स्थिति को लेकर अपनी अभिव्यक्तियों को बार-बार विभिन्न स्वरों मे पुहराने की प्रवृत्ति ‘अज्ञेय’ की ही भाँति मुक्तिबोध मे भी है । परन्तु दोनों की परिणतिओं मे विराट् अन्तर होता चला गया है । जहाँ ‘अज्ञेय’ ससार के समक्ष अपने को एक सशक्त और समर्थ व्यक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे सफल हुए हैं, मुक्तिबोध निराला की भाँति अपनी जीवन-यात्रा मे सघर्षों की चपेट मे लहलुहान होते गये हैं । स्वयं उन्हें ही अपनी अशक्तता का बोध चलने लगता है । एक तरफ उनका सर्जनशील कल्याणकारी व्यक्तित्व है, दूसरी ओर अपनी अनबुझी तृषा है, कीट-सा कुरेदने वाला भीतरी खोखलापन है ।

१ एक आत्मवक्तव्य—तार सप्तक (द्वि० से०) पृष्ठ ८१ ।

२ अशक्त—तार सप्तक (द्वि० से०) पृष्ठ ५३ ।

मुक्तिबोध अपने सघर्षों में यद्यपि क्रमशः टूटते चले जाते हैं, किन्तु उनका सृजनशील मन बराबर उन सघर्षों से उठकर सतत साधना के पथ पर चलना चाहता है, जीवन के बीभत्स प्रसंगों में फँस कर नष्ट नहीं होना चाहता। बहुत पहले उन्होंने लिखा था।

"अष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना,
इस क्षण-भर के दुःख भार से रहो अविचलित रहो अवंचल,
अन्तर्बोपक के प्रकाश में विनत प्रणत आत्मस्थ रहो तुम
जीवन के इस गहन असल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम।"^१

मुक्तिबोध की सरल आस्था और सबल्य आगे के कड़वाहट भरे सघर्ष में काफी दबते पिस्तते हैं। उन्होंने 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण के समय अपने वक्तव्य में लिखा है।

"पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई हैं। वे सबके सामने हैं। मेरी अपनी जिन्दगी जिन तम गतिियों में चक्कर काटती रही उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों की अस्तित्व-सघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है। मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है, जो इस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों।

+ + + +
जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोच में भी दृष्टि उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं बूझूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामतः स्वाधीनता के इस युग में मेरी कविता गहन विम्व भालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मृग्य दशायें और भी दीर्घ और गहन होती गईं। किन्तु यह भी एक सत्य है कि इस आत्म-प्रस्तता के बावजूद और शायद उसकी साथ लिये लिये मेरा आत्मदर्शन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा।"^२

मुक्तिबोध का यह आत्मवक्तव्य उनके व्यक्तित्व की अन्तिम परिभाषा का दर्दनाक गवाह है। अंतरमुख दशाओं का दीर्घ और गहन होने के बाद इस सीमा तक पहुँच गया कि 'अन्धेरे' में जैसी सम्भी रचनाओं का सृजन किया। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और 'ओ काव्यामन्द'।

१ 'मृत्यु और कवि'—तार सप्तक (द्वि० सं०) पृष्ठ १६।

२. 'तार सप्तक' (द्वि० सं०) पृष्ठ ७१।

‘अंधेरे में’ जैसी रचनायें जहाँ एक ओर मुक्तिबोध की सशक्त सर्जना-शक्ति का परिचय देती हैं, वहीं मुक्तिबोध की अपनी उस दुःखान्तक परिणति को भी ध्वनित करती हैं जहाँ जीवन एक दुःस्वप्न बन जाता है। कवि का विद्रोही व्यक्तित्व ऐसे सफल कहे जाने वाले लोगों से समझाता नहीं कर पाता जो अपने जीवन के मूल उद्देश्य से ही स्थलित हो चुके हैं। ऐसे लोगों के ठाटदार जीवन को देख कर कवि के मानस में एक गहरी उषाट-भावना जन्म लेती है। वह ऐसे लोगों से अपने को जोड़ नहीं पाता। उसे लगता है ऐसे लोग अपने राष्ट्र के ही नहीं हैं। उनके मन में पावन जीवन का एक भव्य सपना था। वह मनुष्य को एक सुसम्पन्न एवं सुसंस्कृत आधार पर खड़ा होने देखना चाहते थे। वैसा ही सब वे अपने लिए भी चाहते थे, जिसमें आत्म-सम्मान हो, मन की गहराइयों को छूनेवाला कोई ‘आत्मा का मित्र’ हो और जीवन की स्वाधीनता-पूर्ण स्थितियाँ हो, जिनकी आधार-शिला पर खड़े होकर अपनी सृजनात्मकता का सहारा लेकर वे एक ऐसे समाज के निर्माण में योग दे सकें जो शोषण और विषमता से मुक्त हो। मुक्तिबोध का यह स्वप्न तो नहीं ही पूरा हुआ, अपने जीवन की सामान्य और सहज परिणति भी उन्हें देखने को नहीं मिल सकी।

मुक्तिबोध की लम्बी कविता ‘अंधेरे में’ का अध्ययन उनकी वैयक्तिकता की दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। ‘अंधेरे में’ की समीक्षा समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से की है।

लगता है अधिकांश समीक्षक कविता से वहीं न वही आतंकित हैं अथवा अपने आग्रहों से पीड़ित। डा० नामवर सिंह ने पूरी कविता को एक प्रकार से गद्यात्मक ढंग से लिख डालने का कठिन काम किया है। फिर भी उनके कुछ निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं यद्यपि विवादास्पद भी कम नहीं हैं। “अंधेरे में” कविता की अन्तिम पक्तियाँ उस अस्मिता या आइडेंटिटी की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्सन्देह इस कविता का मूल कथ्य है अस्मिता की खोज। किन्तु कुछ अन्य कवियों की तरह इस खोज में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नहीं बरक गली-सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव-चरित्रों की आत्मा के इतिहास का परिवेश है।^१ इस कविता का मूल कथ्य मनुष्य अस्मिता की खोज है। यह खोज मात्र गली-सड़क की गतिविधि या राजनीतिक परिस्थिति या मानव-चरित्रों की आत्मा तक ही नहीं सीमित है, सचमुच इस खोज का

सबसे बड़ा क्षेत्र है कवि का अपना व्यक्तित्व जिसमें उन्हीं के अनुसार आत्म-प्रस्तुता का तत्त्व भी बराबर विद्यमान है।

मुक्तिबोध ने स्वीकार ही किया है "अचानक अन्तरमुख दशायें थीर भी दीर्घ गहन होती गईं।" सचमुच मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया एक दुरुह दौर में पहुँच गई थी। उनके जीवन-सघर्षों ने उन्हें एक ऐसे खोफनाक लोक में पहुँचा दिया था, जहाँ उन्हें केवल फैंटेसी, दुःस्वप्न और लम्बी तथा सघन विम्बमालिकायें स्वायत्त हो सकती थी। 'अधेरे में' की संरचना और उसके शिल्प पर विचार करते हुए इस भयानक पक्ष को नजरअन्दाज करना उचित नहीं है। उनकी वैयक्तिकता पर विचार करते हुए उसे उपेक्षित करना सम्भव ही नहीं है। केवल वैचारिक साम्य के आधार पर उस आन्तरिक विसंगति को न देख पाना या कविता के आतंक से उसे पूरा-पूरा स्वायत्त न कर सकता, ये दोनों स्थितियाँ अब तक की समीक्षा में परिलक्षित हैं।

डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है "अस्मिता की खोज सम्बन्धी ज्यादातर कविताओं में या तो केवल एक प्रकार की हताश खोज मिलती है, या फिर उपलब्धि की बलात् आत्मतुष्टि।"^१ उनके अनुसार मुक्तिबोध इन दोनों परिणतियों से बचकर एक सार्थक खोज करते हैं। फैंटेसी शैली का अनुसरण इस दृष्टि से बड़ा ही सुविधा-पूर्ण ढंग है, जिसके सहारे अमम्भव बिन्दु मिलाये जा सकते हैं। वे जाने कहते भी हैं 'अधेरे में' की संरचना की सबसे बड़ी विशेषता है, परस्पर विरोधी भाव-चित्रों का धूप छाहीं मेल, जिसे आचार्य शुक्ल विरुद्धों का सामंजस्य कहने थे।^२ प्रश्न यहाँ यह उठता है कि इस प्रकार का परस्पर-विरोधी भाव चित्रों का धूप-छाहीं मेल कवि की सुनिश्चित सर्जनात्मक प्रक्रिया का सहज परिपाक है, या उसके गहन सघर्षों से गुजरते हुए जीवन की एक अनिवार्य विवशता जो सृजनात्मक सर्गणियों से अपने को अभिव्यक्त करती है? मेरी दृष्टि में दूसरी भावना अधिक सही लगती है।

'अधेरे में' का 'में' मुक्तिबोध का सघर्ष क्षेतता हुआ व्यक्तित्व है, उसका 'वह' जो जिन्दगी के अधेरे कमरे में लगातार चक्कर लगा रहा है, जिसकी आवाज तो मुनाई दे रही है पर जो दिखाई नहीं पड़ता, उनकी आत्मामिव्यक्ति की सम्भव भावार प्रतिमा है। सवाद लगातार चल रहा है। विभिन्न नाटकीय दृश्य आते-जाते हैं और यह सवाद भी चलता रहता है। वह कभी नुकीली

१. कविता नये प्रतिमान—डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ २३७।

२. कविता के नये प्रतिमान—डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ २४१।

नाक, भव्य सलाह और दृढ़ हनुवाला अपरिचिन व्यक्तित्व बन कर सलक जाता है, कभी गौर वर्ण, दीप्ता दृग और सौम्य मुख का बनकर साक्षात् रहस्य के रूप में आ खड़ा होता है—रक्तालोम-रनात पुरुष । कवि को लगता है कि वह रहस्यमय व्यक्ति उसकी अब तक नहीं पाई जा सकने वाली अभिव्यक्ति है, जो साकार होकर आ खड़ी हुई है । ज्यो-ज्यो कविता आगे बढ़ती है, विम्व-मालायें सघन होती जाती हैं और भीतर का तीखा सघर्ष अधिक वेगवान होकर ऊपर आने लगता है, जैसे ज्वालामुखी का लावा —

“परन्तु भयानक खड्ड में अंधेरे में आहत
और क्षत-विक्षत में पड़ा हुआ है,
शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ जरा भी”

परन्तु दूसरी ओर वह है जो कह रहा है कि रस्सी के पुल पर चल कर पर्वत-सन्धि के गह्वरो को पार करते हुए शिखर से बगार पर स्वयं ही पहुँचो । अजीब स्थिति है । जीवन की विकट वास्तविकतायें भयानक खड्ड के अंधेरे में असह्य लटके हुए हैं और दुर्निवार आत्मा शिखर पर पहुँचने को पुकार रही है । यही है मुक्तिबोध का वास्तविक तनाव । शरीर का सत्य, आत्मा के सत्य से लगातार जुझ रहा है । न शरीर छोड़ा जा सकता है न आत्मा और इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि दोनों में सेतु भी नहीं बनाया जा सका ।

वह कमजोर पुटनो को बार-बार मल-मल कर सड़खड़ाता हुआ उठने का प्रयास करता है, टटोल-टटोल कर आगे बढ़ता है । पैरों में धरती का फैलाव, हाथों में दुनिया तथा मस्तक पर आकाश को अनुभव करते हुए वह आगे बढ़ता है । उसकी आत्मा में ‘सत्-चित्-वेदना’ जल उठती है । किसी प्रकार साँकल खोलने पर देखता है कि सामने कोई नहीं है । रात का पक्षी कहता है कि वह चला गया और अब नहीं आवेगा । इतना ही नहीं वह रात का पक्षी यह भी बतलाता है कि जो चला गया वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति थी । उसे खोजने और शोध करने को भी वही कहता है ।

अन्तरमुख दशार्थें गहन होने लगती हैं और भीतर का अन्तर्द्वन्द्व शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने लगता है । कहीं तालस्ताय दिखाई पड़ जाते हैं और कवि को अपने ही किसी अधूरे उपन्यास की कसक साल जाती है । स्वप्न में ही अचानक शवयात्रा का जुलूस दिखाई पड़ने लगता है । यह शवयात्रा कवि के मनश्चित्तों का विद्रूप सकलन है क्योंकि लगातार जीवन में वह छला जा रहा है ।

इसमें उसे पत्रकार, आलोचक, साहित्यकार, प्रसिद्ध उद्योगपति, कुख्यात हत्यारे सब एक साथ एक मंच पर दिखाई पड़ते हैं। जीवन में भी तो मुक्तिबोध ने उन्हे अनेकों बार एक मंच पर देखा होगा। वे सारे लोग कवि के द्वारा देख लिए जाने पर चिन्ता उठते हैं कि 'मारो उसे, उसने हमें नगा देख लिया।' फिर आता है वह क्षण जिसमें कवि को यह धुन अभिभूत कर लेती है। 'जीवन क्या जिया, अब तक क्या किया।' यह कचोट मुक्तिबोध के अन्तर की एक कृष्ण परन्तु सच्ची कचोट थी।

कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंधेरे में निष्पन्द पड़ा हुआ है। चारों ओर अखबारी दुनिया का फैलाव, घिराव और तनाव व्याप्त है। सबको पर सेनायें मार्च कर रही हैं। लगता है किसी जनक्रांति के दमन के लिए मार्शल-लॉ लगा हुआ है। अचानक उसे लगता है कि वह गलियों में दम छोड़कर भाग रहा है। दूर गरीब बस्ती में एक तिरफिरा जन रहता है। वही फिर आज जैसे अत्यन्त जागरित-बुद्धि और प्रज्वलित-मति होकर एक गान गा रहा है। वह गाता है—

“ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !

+ + +

धु लो के धागों को तमगों-सा पहना
अपने ही हथालों में दिन रात रहना
अमंग युद्धि व अकेले में सहना
जिन्दगी निष्क्रिय बन गई तलघर

1 अब तक क्या किया,

11 जीवन क्या जिया ।

इस गान में एक धुन यह भी है 'ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम' कवि को लगता है वह सपने में आत्मालोचन कर रहा है।

1 इस गीत में जो स्वर गूँजते हैं वे मुक्तिबोध के अन्तर्विरोधों को उभार कर रख देते हैं। मुक्तिबोध के भीतर तनाव एकरेखीय या एकस्तरीय नहीं है। उनका तनाव भीतर से बाहर के बीच का भी सीधा तनाव नहीं है। अन्तर

मे ही उसके स्तर हैं, जो एक दूसरे को काटते हैं। एव ओर ऊपरी चेतना में उनका मानव-प्रेम उन्हें मुग्ध कर रहा है, जहाँ उन्हें लगता है कि वे अपने में ही वेन्द्रित रह, समाज की चिन्ता नहीं की। उदरभ्रमर बनकर अनात्म बन गये। दूसरी ओर उनकी यह समस्या है, 'निजत्व मात्र है वेचन, क्या वहाँ किससे कहूँ, कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन?' एक ओर उन्हें लगता है कि वे किसी प्राकृत, गुहा में उतर कर पाते हैं कि उनके ही विवेक, निष्कर्ष, अनुभव, वेदना, रत्न की भाँति प्रकाश विकीरित कर रहे हैं, जो उनके विचारों के रक्तिम अग्नि के प्रकाश से दमक रहे हैं तो दूसरी ओर उन्हें लगता है :

“.....रश्मि विकीरण—

मेरे भी प्रस्तर करते हैं प्रतिक्षण ।

रेडियो रेडिय रत्न हैं वे भी

विजली के फूलों की भाँति ही

पल हैं वे भी

किन्तु असम्यक्त मुझको है गहरा,

शब्दाभिव्यक्ति अभाव का संकेत ।”^१

उन्हें लगता है उनके पूल तेजस्विय तो हैं किन्तु अतिशय शीतल हैं तथा इन रंगीन पत्थर-फूलों में काम नहीं चलेगा ।

“अब अभिव्यक्ति के सारे स्तर उठाने ही होंगे ।

तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब ।

पटुबना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार

सब कहीं देखने मिलेंगी वहाँ

जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता

अदृश कमल एक ।”^२

‘अंधेरे में’ मुक्तिबोध की सृजन-क्षमता का जितना बड़ा प्रमाण प्रस्तुत करती है, उतनी ही बड़ी भ्रूषा है, वह उनके वैयक्तिक अन्तर्विरोधों की। स्वप्नों का सहारा लेकर कवि ने अपनी तीखी अनुभूतियों को अजीब बिम्बों के सहारे व्यक्त किया है। कही उसे तिलक की पापाण-भूति दिखाई पड़ती है जिसके सलाट से अचानक रक्त बहने लगता है, उनका अगदखा खून से रंग उठता है। बोरे में लिपटे गान्धी से मुलाकात भी एक अवसाद से, भरने वाली है।

१. अंधेरे में—चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० २६० ।

२. अंधेरे में—चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २६१ ।

गान्धी अपने पीठ पर सदे एक किशु को बवि बो सोंप जाते हैं। फिर अचानक जमीन की सतह के बहुत नीचे प्राकृत गुहा में उतर कर वह देखता है कि चमकते पत्थर, छुतिमान मणियाँ, रेडियो एक्टिव रत्न बिछरे पड़े हैं जो अपनी किरणें बिखेर रहे हैं। जब कवि उन मणियों को ध्यान से देखता है, तो उसे लगता है कि ये तो उसी के अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष मणियों की भाँति चमक रहे थे। मुक्तिबोध की यह खोज निश्चय ही उनके भीतर छिप-मिताते हुए आस्थावान् अस्तित्व की खोज है। परन्तु जीवन में जो गहन घुष्य अंधेरा छाया हुआ है, उसमें तो मजपात्राओं, सैनिक परेड और प्राकृत गुफाओं की दिवाई पड़नी है। कवि इन विद्रूप विसंगतियों के बीच जान छोड़ कर भागता रहा है।

तिलक की पाषाण मूर्ति की नासिका से रक्त की धारा का बहना भी मुक्तिबोध की कल्पना के उगी दुःखान्त का चोतक है। नासिका ही नहीं अतिशय चिन्ता से उनका मस्तक-बोप जैसे फूट पड़ा हो। सचमुच कवि एक भयावह मानविकता में गृहनरत है। उसने चारों ओर आदशों की खन खन रही है। उसे लगता है

"इतने में छाती में भीतर टक्-टक्
सिर में है धड़ धड़ बट रही हड्डी।
किन्तु जबर्हस्त।
बिबेक बसाता सीसा रन्दा
बला रहा बसला
छोले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई"

और इस प्रकार कवि के समक्ष अनेक दृश्यावलियाँ गुजर जाती हैं। सब में किसी न किसी रूप में उसने अन्दर का तनाव सङ्कत होता है। एक दृश्य आता है। कवि को लगता है कि उसे जबर्दस्ती पकड़ कर एक अंधियाले कमरे में दूटे स्टूल पर बिठाया गया है। उसके सिर की हड्डी तोड़ी जा रही है उसने सिर में हपोटे से लोहे की कीलें घँसाई जा रही हैं। सिर की हड्डी को तोड़-कर भीतर के मस्तक-यंत्र की परीक्षा की जा रही है। किन-किन विचारों की बौन-सी ऊर्जा किन शिराओं में धव-धवकर रही है।

"वहाँ है पश्यतु कैमरा जिसमें
सर्पों का जीवन-दृश्य उतरते
वहाँ-कहाँ सफ़ेद सपनों के आशय
वहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान।"

और अन्त में जीव-मडताल की प्रक्रिया में पूछा जाता है इस सस्या का सेक्रेटी कौन है ? शायद उसका नाम आस्था है । और इस दुबडो का सरगना आत्मा वहाँ है ? वास्तव में मुक्तिबोध की मूल समस्या यही है । जिन जीवन-मूल्यों को उन्होंने प्रारम्भ में ही अत्यन्त गहराई से आत्मसात् किया था, उनमें कुछ का केन्द्र उन्हीं आत्मा थी । इस आत्मा को वे कभी छोड़ नहीं पाते । इसी आत्मा में उन्हें 'सर् चिर् वेदना' से जोड़ा था । आत्मा ने उन्हें बहुत पहले ही प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करने की प्रेरणा से लैस किया था ।

इसी की प्रेरणा से उन्होंने बहुत पहले ही लिखा था ।^१

“और जाने क्यों,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नीलतारा,
तीव्र गति,
जो शून्य में निस्संग,
जिसका पथ विराट्
बहु छिया प्रत्येक उर में
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।
उसमें भागता है एक तारा
जो कि अपने ही प्रगति पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वयं चलचित्र,
भीति हीन विराट्-पुत्र ।

इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।”^१

मुक्तिबोध की आत्मा में बैठा यह निश्चल विश्वास उन्हें जीवन की कठोर वास्तविकता के बीच पूरी तौर पर झेल नहीं पाता और आगे चलकर उन्हें लगता है कि उनका यह विश्वास खोबला था । वे आगे एक कविता में लिखते हैं

“मुझे छम होता है कि प्रत्येक पत्थर में धमकता हीरा है,
हर एक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मिति में विमल सदानोरा है,
मुझे छम होता है कि प्रत्येक वाणी में महाकाव्य-पीड़ा है,
पल भर सब में गुजरना चाहता हूँ,

प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता है ।

इस तरह खुद ही को दिये बिये फिरता है ।

अजीब है जिन्दगी ।

विश्वास की भ्रम के रूप में परिणति मुक्तिबोध की द्रैजिडी है, किन्तु उसे पुन

पुन विश्वास के रूप में ही सजोय रखने की अदम्य लालसा उनकी शक्ति है ।

एक दूसरी कविता में वे कहते हैं

'महीं-नहीं यह-यह तो है ज्वलन्त सरसिज ।

सिन्धु की बलदल—के चक्र में घँसकर

बल तक पानी में फँस कर

मैं कह धमल तोड़ साया हूँ

भीतर से इसीलिए, गीला हूँ

पक से आरुत

स्वयं में घनीभूत

मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है ।'

कवि का यह आत्म विश्वास सघर्षों की महन निराशाजनक घड़ियों में भी कही न कही बना रहता है । इसीलिए 'अन्धेरे में' भी अन्तर्गत उन्हें, स्वप्न में ही सही, यह अहंसा होना ही है कि वह अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाकर, मठों और गढ़ों को तोड़कर दुर्गम पहाड़ों के उस पार पहुँचेंगे ही, जहाँ उन्हें वे बाँट मिलेगी जिनमें प्रतिपल एक अरुण कमल काँपता रहता है । इतना ही नहीं उन्ह यह भी सोचता है कि उन्हीं के मत्तो, विचारों और विक्षोभ-मणियों को लेकर अन्तर्गत जन-समुद्र उमड़ पड़ता है । क्रान्ति का बिगुल बजता है । गोलियाँ दगती हैं, आग लगती है और क्रान्ति की पताका फहराने लगती है । मुक्तिबोध के स्वप्न में घटित होने वाली इस क्रान्ति को वर्तमान समाज के साहित्यकार, कविजन, चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक आश्चर्यचकित होकर देखते हैं, क्योंकि उन्ह यह सब भ्रम और किम्बदन्ती जैसा लगता है । वे तो रत्नायी वर्ग से नामिन्नात द्वारा जुड़े हुए हैं । परन्तु मुक्तिबोध के प्रेरणा स्रोत न तो अचल को चनायमान कर दिया है

"राह के पदचर ढोको के अन्दर

पहाड़ों के भरने तड़पने लगे गये ।

मिट्टी के लोंदों के भीतर ।

भक्ति को अग्नि का उद्रेक

भड़कने लग गया ।

धूल के कण

अनहद नाद का कम्पन

छातरनाक ।”^१

इस प्रकार कवि के स्वप्न में क्रान्ति चरितार्थ होती है। वेदना-नदियों का जल पीकर युवको में व्यक्तिस्वान्तर हो उठता है। वेदना-नदियाँ जिनमें माँओं के आँसू, पिताओं की चिन्ता, धर्मिकों का सन्ताप दूबा हुआ है।

कविता के अन्त में कवि उन स्वप्नों का आशय ढूँढ़ने लगता है। उसे लगता है उस खोज की प्रक्रिया में ही अर्थों की वेदना उसके मन में घिरने लगती है। उन स्वप्नों में मस्तिष्क और हृदय में रन्ध्र बना दिये हैं, परन्तु उन रन्ध्रों में प्रदीप्त ज्योति का रस बस गया है। उन अर्थों के घावों के आस-पास कवि की आत्मा में चमकीली प्यास भर गयी है। यह चमकीली प्यास अनजाने ही भृगतृष्णा के रूप में पाठक के सामने चमक उठती है। रचना के इस बिन्दु पर कवि को जो एक स्फूर्ति या जीवन्तता की अनुभूति होती है उससे लगता है कि स्वप्न वाली रात में उसने अचानक किसी अनपेक्षित क्षण में ही जीवन भर के लिए प्रेम कर लिया हो। क्रान्ति का संस्पर्श प्रेम के साथ कितना अर्थवान लगता है ? डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन सार्थक लगता है “विद्रोह का अनुभव और प्रणय का क्षण एकाकार हो उठता है।”^२

सपनों के अर्थ खोजने की प्रक्रिया में ही कवि जैसे पुनः सपने में सचरण करने लगता है और एक बार अन्त में उसे एवाएक फिर वही व्यक्ति दीख पड़ता है। वह आँखों के सामने गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में चला जा रहा है। कवि को लगता है यह वही व्यक्ति है जिसे उसने गुफा में देखा था। फिर उसे वह खोजता है किसी जन-धूँ में। फिर उसे अनुभूति होती है कि यह साधारण प्रतिमा उसकी परम अभिव्यक्ति है। उसी को वह लगातार खोज रहा है :

“इसीलिए मैं हर भली में
ओर हर सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ एक-एक चेहरा

१. “अन्धेरे में”—चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृष्ठ २६६।

२. नयी कविताएँ एक साक्ष्य, पृष्ठ १०१।

प्रत्येक गतिविधि

प्रत्येक चरित्र,

घ हर एक आत्मा का इतिहास

हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति

प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श

विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ।

खोजता है पठार—पहाड़—समुन्दर

जहाँ मिल सके मुझे

मेरी वह खोयी हुई

परम अभिव्यक्ति अनिवार

आत्म-सम्भवा ।”^१

कवि उस परम अभिव्यक्ति की खोज लगातार करता रहा । खोज तो समाप्त नहीं हुई परन्तु कवि का दर्दनाक अन्त आ गया । मुक्तिबोध की रचना का सबसे मार्मिक और दर्दनाक पक्ष यही है कि जीवन में ही वह अपनी होनेवाली मृत्यु के साक्षी हो जाते हैं । तिलक की पाषाणी मूर्ति के मस्तक-कोप के फटने की अतिकल्पना कवि के अपने जीवन में घटित होती है । मृत्यु का घातावरण अनेक बिम्बों द्वारा प्रस्तुत हुआ है । सगता है मुक्तिबोध अपने आरम-संघर्ष की होनेवाली परिणति के द्रष्टा स्वयं हो गये थे ।

उनका संघर्ष जहाँ अत्यन्त ही निजी स्तर पर अपने जीवन का संघर्ष था, वही वह अपनी व्यापकता में हर संघर्ष-रत व्यक्ति का अपना संघर्ष प्रतीत होने लगता है । मुक्तिबोध अपने सृजनात्मक क्षणों में अत्यन्त बेगवान् है । परन्तु जब उन पर सैद्धान्तिक दृष्टि हावी रहती है और सृजन के स्थान पर वक्तव्य चलने लगता है, वहाँ उनका प्रभाव बिखर जाता है । “अंधेरे में” भी छठवाँ और सातवाँ खण्ड इस प्रवृत्ति से ग्रस्त है । डाक्टर रामविलास शर्मा का यह कथन तो ठीक है कि “यह सत्य है कि मुक्तिबोध के मानसिक संघर्ष का एक कारण मार्क्सवाद के प्रति उनका गहरा आकर्षण तथा उसे पूरी तरह स्वीकार न कर पाने की विवशता थी ।”^२ किन्तु जो निष्कर्ष उन्होंने निकाला है उससे सहमत हो पाना भी मुश्किल है । उनका कहना है कि जब वे मार्क्सवाद को स्वीकार करके रचनाशील रहते हैं तो कविता का घरातल श्रेष्ठ होता है ।

१. अंधेरे में—चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृष्ठ २७० ।

२. नयी कविता और अस्तित्ववाद—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० १५४ ।

सन्चाई यह है कि मुक्तिबोध या कोई बड़ा कवि अपने मृज्जन के क्षणों में नितांत मौलिक होता है और किसी वाद की लीक से बँधकर नहीं चल पाता है। इसीलिए मुक्तिबोध के भी श्रेष्ठतम अंश वही हैं, जहाँ वे भावसंवाद के शिक्के से मुक्त हैं और ऐसे अंश बहुत अधिक हैं। यहाँ हम डॉ॰ रघुवश की मान्यता से पूरी तौर पर सहमत हैं। नये कवि के सन्दर्भ में वे कहते हैं "अतः जिस प्रकार वह अपने अह की स्वीकृति-के माध्यम से मानव-व्यक्तित्व, उसकी विविष्टता तथा स्वाधीनता को उपलब्ध करने में सतन्म रहा है, उसी प्रकार अपने यथार्थ सक्षय के द्वारा उसने अपने मानवीय मूल्य बोध के कई आयामों को अपने काव्य में अभिव्यक्ति दी है। उनसे लिए मूल्य-दृष्टि का आधार वहीं बाहर से प्राप्त, स्थापित एवं निःसृत नहीं है, यह उसकी असम्पूक्त यथार्थ-दृष्टि से जिस प्रकार सम्बद्ध है, उसी प्रकार उसकी रचना-प्रक्रिया से व्यजित होता है।"^१

मुक्तिबोध की कविता में जो तनाव अत्यन्त प्रारम्भिक दौर में सञ्चित होना शुरू हुआ, वह अन्त तक बना हुआ है। कारण यह है कि अपने संपूर्ण जीवन में मुक्तिबोध अपनी पार्थिव जिन्दगी के सघर्षों से उबर नहीं सके। अन्त तक वे निम्न मध्यवर्गीय जीवन की सारी कठिनाइयों को झेनते रहे। उनकी पीड़ा काल्पनिक या रोमांटिक नहीं है। वे उन वास्तविक घेरों में घिरे रहे हैं जहाँ से केवल छटपटाहट और बेचैनी उन्हें आक्रान्त रिय रही है। डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन काफी हद तक ठीक है कि 'मुक्तिबोध की रचना हर क्षण बेचैनी और ऐंठन में से निकलती है, बेचैनी वह मूलतः है, रचना हो जाय तो यह कवि के हृदय में महज संयोग जैसा है।'^२ मुक्तिबोध को पड़ते समय मुझे लगता है कि पीड़ा की इतनी तीखी शक्ति उनकी कविता में ध्वनित होनी है जो पाठक को बेचैन ही नहीं करती, तिलमिलाहट से भर देती है। 'मौत का पठान जिन्दगी जीने का व्याज बमूलमे' आता रहता है। 'बुकारे में प्राणों का नाश' माँगता है। 'एक आत्म-व्यक्तव्य' में कभी एकदम कर उनके मस्तक की हड्डियाँ का तोड़ा जा रहा है, कभी हृदय के थाले में खत का सरोवर हिलोरे मारना है। 'अन्धेरे में' कभी 'भूल गतती' 'जिरह बख्तर' पहिन कर 'दिल क तय्य' पर बैठकर 'हिंसाव माँग रही है' (भूल गलती) कभी छाती पर अनेकों घाव सालने लगते हैं (ब्रह्मरक्षस) कभी बहसब और से घिरा

^१ १. समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता—डॉ॰ रघुवश, पृ० २०।

२. नई कविताएँ एक साक्ष्य—डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ ६६।

अपने को शिखर पर अकेला पाता है। चारों ओर से घिरा हुआ न भाग सकता है, न हिल सकता है, मत्तकीलित-सा भूमि में गड़ा हुआ है और लगता है कि अचानक गिरा, तब गिरा (लकड़ी का बना रावण) कभी उसे लगता है सत्य की देवदासी-चोलियाँ उतारी जा रही हैं, उधारी जा रही हैं तथा सपनों की आतें चोरी फाड़ी जा रही हैं। (चाँद का मुख टेढ़ा है) ऐसे सैकड़ों स्थल और सैकड़ों बिम्बों मुक्तिबोध की काव्ययात्रा में देखे जा सकते हैं, जहाँ उनकी अपनी क्षत-विक्षत आत्मा, जर्जर शरीर और आकुल प्राण छटपटा रहे हैं।

उनकी कविता में जो विद्रूप बिम्बों की सम्बन्धितता है, वह भी उसी सपर्प में टूटते हुए, परन्तु हार न मानते हुए आक्रोश में तमतमाये कवि की सृष्टि है।

मुक्तिबोध में प्रगतिशीलता या मार्क्सवाद के स्वरों को अधिक उजागर करनेवाले समालोचकों को उनकी अपनी पीड़ा और आत्मप्रस्तुता की परिस्थितियों को सही सन्दर्भ में देखना चाहिए। 'अँधेरे में' जैसी कविता में भी जिसे जन-वस्तावेज कहा गया है, मुक्तिबोध हर मजिल पर अपना ही रूप, अपना ही स्वर, अपनी ही विचार मणियों को चमकने हुए देखते हैं। क्रान्ति भी उन्हीं के सूत्रों को लेकर होती दीखती है। जन-जन में उन्हीं की अभिव्यक्ति चबकर लगी रही है। कवि की पार्थिव स्तर पर विफल जीवन-यात्रा उसे उसके अन्तर्मन में शहादत और गर्व की मुद्रा धारण करने को विवश करती है। यह मुक्तिबोध की सृजनात्मक लाचारी है। जब वे स्वीकार करते हैं

अपने भस्तिष्क के पीछे अकेले में, गहरे अकेले में
जिन्दगी के गन्दे-न-कह सके जानेवाले अनुभवों के
भयकर विशालाकार प्रतिरूप ॥

स्याह १

और उसी क्रम में आगे वे बहते हैं

आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के—

वैय के, महा अपमान के, व क्षोभपूर्ण

भयकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का

दीलता पहाड़

स्याह २

१. मुझे याद आते हैं—चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ६६।

२ वही, पृ० ६७।

१५० : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

तो यह बात बिल्कुल साफ है कि मुक्तिबोध की अपनी जिन्दगी का संघर्ष, पार्थिव जिन्दगी का संघर्ष कभी उन्हें साँस नहीं लेने देता। इसीलिए मुक्तिबोध न तो कभी आप्तकाम नज़र आते हैं, न उन्हें अज्ञेय की भाँति वह मंजिल मिल सकी जहाँ से :

‘बील रहा है

पार

रूप-रूपायमान—रूपायित

पहचाना कुछ : जिधर फिर बढ़ूँ—

धीरे अधीरे, सहज, डगमग, डूत, धीरे

हठ धर,

मन मे भर

उछाह।’^१

वे तो सदा जूझते रहे जीवन की उन सामान्य परिस्थितियों के लिए जहाँ खड़े होकर एक सहज सम्मानजनक जीवन जिया जा सके। इसी घरातल से वे समस्त पीड़ित मानव-समुदाय से अपने को जोड़ते हैं, यहाँ से वे मार्क्सवाद की भी स्वायत्त करते हैं और इसी घरातल से वे सृजन में रत रहे हैं। शमशेर की यह टिप्पणी एक हद तक ठीक लगती है : “मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघकर, प्रगतिवाद से मार्क्स-दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार संभाल और उसकी स्वतंत्रता भहसूस कर, स्वतन्त्र कवि रूप से, सब बादो और पार्टियों से ऊपर उठकर, निराला की सुखरी और खुली मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया।”^२

मुक्तिबोध अपने आत्म-संघर्ष के माध्यम से ही समाज के उत्पीड़न, शोषण और दमन से टकराते रहे। अपने निजी जीवन की कटु वास्तविकताएँ ही उन्हें समाज के पिंसते हुए लोगों से जोड़ती हैं। इसीलिए उनका अन्ध्या-विरोध उद्बोधन या आवाहन या सहानुभूति के स्तर पर नहीं बल्कि सीधे युद्ध में भागीदार एक योद्धा के रूप में स्पष्ट करता है। यही उनकी शक्ति है, यही उनकी सीमा भी है।

गिरिजा कुमार माथुर

‘तार सप्तक’ के कवियों में वैयक्तिकता की दृष्टि से गिरिजा कुमार माथुर

१. सम्पराय—कितनी नावों में कितनी बार, पृ० ८६।

२. भूमिका—चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २४।

प्रयोगशील कविता में वैयक्तिकता के अन्य स्वर : गिरिजा कुमार माथुर : १५१

का अध्ययन भी एक रोचक अध्ययन कहा जा सकता है। यो तो कविता को सेमेवन्दी में बाँधनेवाले समालोचकों के हिसाब से मुक्तिबोध, गिरिजा कुमार माथुर एवं रामविलास शर्मा जनवादी कवि के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, किन्तु इनमें जहाँ मुक्तिबोध का काव्य उनके वैयक्तिक सघर्षों का एवं उनमें जूझती हुई उनकी मनोपा का एक विशद दस्तावेज प्रस्तुत करता है, वहाँ गिरिजा कुमार माथुर की कविता में उनकी रुमानियत एक अत्यन्त वैयक्तिक स्वर पर अभिव्यक्ति पा सकी है। कहीं अपने प्रणय के रंग में रँगने के बाद उन्हें सारे वन केशर के रंग में रंगे हुए दिखाई पड़ते हैं, कहीं उनके कुत्ते की सिलवट में लिपटा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा उनकी प्रियतमा की गोरी कलाई की स्मृति से उनके अंतर को भर देता है। कभी घड़ी की सुइयों के रेडियम की छाया में उन्हें अपने प्रियतम के मिलन का पूरा चित्र उभड़ कर धरधरा जाता है। और कहीं पानी भरे हुए बादलों को देखकर किसी विदाई की सन्ध्या की याद उन्हें झकझोरने लगती है। इस प्रकार गिरिजा कुमार माथुर का काव्य भण्डार उनकी वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों में रंगे हुए चित्रों का एक समृद्ध भण्डार है। किसी फागुनी शाम में अपने जीवन की मिठास को धोले हुए कवि गा उठता है—

“जीवन में फिर लौटी मिठास है
गोत की आलसिरी मोठी सकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी छाँहों में
भोठो में, आँसो में
फूलों में डूबे ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी बाँहें

“आज हैं केसर रंग रंगे वन।”

कवि अचानक एक सूनी-सी सन्ध्या में थके हुए अपने मैले कपड़े देख रहा था कि उसे सिल्क के कुत्ते की सिलवट से लिपटा हुआ रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा मिल गया। उसके सामने गोरी कलाई नाच उठी जिनके साथ उसने रंगभरी मिलन की रात में प्रणय-केलि की थी और फिर सारी पिछली बातें और प्रियतमा की लज्जाई समूची तस्वीरें मानस में तिरने लगीं। सुनहली सेज पर बसे हुए बन्धन में किस प्रकार वह चूड़ी टूटकर गिरी थी, वह दृश्य साकार हो उठा—

“आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं था ही मैले कपड़े देख रहा था

किसी काम में जो बहसाने
 एक सिल्क के कुत्ते की सिलवट में लिपटा
 गिरा रेशमी छूड़ी का छोटा सा टुकड़ा
 उन गोरी बलाइयों में जो सुम पहिना थीं
 रंग भरती उस मित्रन रात में
 मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
 पिछली बातें ।
 बूझ-कोर-से उस टुकड़े पर
 तिरने सभी तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें
 सज्ज मुनहली
 कैसे हुए व घम में छूड़ी का सर जाना
 निबल गयीं सपने जैसी वे रातें
 याद दिलाने रहा मुहाग भरा यह टुकड़ा ।
 गिरिजा कुमार माथुर की ये पत्नियाँ बरबस जयशंकर प्रसाद की याद दिलाती हैं ।
 परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
 नि श्वास मलय के भोंके
 मुख चद्र चादनी जल से
 मैं उठता था मुहँ धोके ।

और फिर उसी प्रेम में विरह के दश से दशित प्रसाद कह उठते हैं

‘भीगी पलकों का गिरमा

मुख का सपना हो जाना ।

कुछ ऐसा ही स्मृति का दश और बिपाद की छाया गिरिजा कुमार माथुर को भी डँस रही है ।

प्रथम मित्रन की स्मृति में डूबा हुआ कवि एक रेडियम घड़ी को कोने में
 चूँते हुए देखता है और उसी छाया से उसे अपना मिलन कुरेदने लगता है ।
 मूनी सी उस आधी रात में रुका हुआ चुम्बन उसे उदासी से भर देता है । ऐसे
 ही एक पानी से भरे हुए भारी बादल से दूबे आसमान के नीचे फैली हुई विवश
 उदासी के वातावरण में कवि को अपने मन के मोती की याद आ जाती है
 और वह कह उठता है

१ छूड़ी का टुकड़ा—तार सप्तक, पृ० १२६ ।

२ आसू ।

‘ जिधर छोड़ आये हम अपन मन का मोती
 फोर्सों की इस मेघ भरी दूरी के आगे
 एष बिदाई को सध्या में
 छोड़ चाँदनी भी वे बाँहें
 आँसू—की मचलती आँख । ’^१

गिरिजा कुमार माथुर की चाँदनी सी बाह और आँसुओं से भरी हुई मचलती आँखों ने बार बार उदास बनाया है ।

माथुर की कविता का सबसे गाढ़ा रंग उनकी प्रणयानुभूतिमी का ही है । विभिन्न परिवेशों में विभिन्न प्राकृतिक स्थितियों में गिरिजा कुमार को उनके प्रणय के चित्र जीवन्त हो-हो कर आ-आकर बार-बार उदास कर जाते हैं । वैसी ही उदासी का एक प्रसंग दृष्टव्य है—

‘ रिक्त कमरे की उदासी बढ़ रही है,
 दूर के आते स्वरों से
 दूर होता जा रहा है मैं स्वयं ही
 पास की दीवार पर के चित्र सारे,
 शून्य द्वारों पर पड़े रंगीन पहेँ
 घाघु की साँतों भरी, एकांत लिखकी,
 यह अकेली-सी पड़ी
 यह दीप ठण्डा
 और गर्तों-जवा यह सूना पलंग भी
 दूर होता जा रहा है दूर कितना ।
 लग सका है कुछ मैं अपना
 मि-दगी भर दूर ही रहना पड़ा है,
 धार के सारे जगत से । ’^२

माथुर की कविताओं में ठंडा दीप, ‘सूना पलंग’, ‘रिक्त कमरा’, ‘सूनी दुपहरी’, ‘भीगा दिन’ जैसे प्रतीक बार-बार मेंढराते हैं और उनकी रूमानी शिदगी के प्रणय प्रसंगों को अभिव्यक्त करते रहते हैं ।

माथुर की वैयक्तिकता निश्चित रूप से प्रणयानुलता में दूबी हुई है और बार-बार उन्हें दूर देश में छूटा हुआ कोई आँसू धुला उदास मुछड़ा मादों से भर जाता है ।

“दूर देश का आँसू घुला उदास वह मुखड़ा

याद भरा मन लो जाता है

धतने की दूरी तक जाती हुई थकी आहट में मिल कर ।”^१

स्मृतियाँ, स्मृतियाँ और स्मृतियाँ, प्रणय के विभिन्न प्रसंगों की रगीन स्मृतियाँ । प्रियतमा के साथ के अनेक अवसर माधुर के हृदय को विभिन्न अवसरों पर कुरेद-कुरेद जाते हैं । ऐसा ही एक प्रसंग कवि को याद आ जाता है जब वह अपने प्रिय से बहुत दूर चला गया है, इतनी दूर कि पत्नी की दुनियाँ भी दूर छूट गयी है, कि ध्वजानक उसे अपने प्रिय का सूना-सा सदेश मिलता है और सारी पुरानी स्मृतियाँ ताजा हो उठती हैं । वायु के वेग से चला जाता हुआ रेलगाड़ी का रगीन दूसरा दर्जा, दूर-दूर तक फैले बन, पर्वत, मैदान, आँखों के सामने से तैरने लगते हैं और कवि की आँखों में अपने एक हाथ पर चिबुक टिकाये हुए, झिझकी में से पहाड़ियों को देखती हुई रेशमी काँच पर बैठी हुई अपनी प्रियतमा का दृश्य को घ जाता है । आज वह प्रियतमा बहुत दूर है । प्राणों से और जरीर से पीड़ित किन्तु फिर भी उसकी स्मृति कवि को भिगो जाती है । वह पहले प्यार में डूबी हुई यात्रा कवि के मानस से कभी अलग नहीं हो पाती ।

श्री गिरिजा कुमार माधुर के काव्य में वैयक्तिकता का मुख्य स्वर उनकी प्रणयानुभूतियों के ही इर्द गिर्द घूमने वाला है और यही प्रणयाकुल स्मृतियाँ उनकी काव्य-यात्रा में बहुत बाद तक जीवन्त बनी रहती हैं । जीवन की ये सुरग, सुहावनी सुधियाँ बहुत बाद तक उन्हें अपने आवेश से बाँधे रहती हैं । यामिनी के बीत जाने पर भी तन की सुगन्ध शेष रहती है ।

और प्रियतमा के कुन्तल के फूलों की याद ही चाँद बन जाती है

छाया मत छूना

मन होगा दुःख बूना

जीवन में हैं सुरग सुधियाँ सुहावनी

छवियों की चित्रगन्ध फैली मनभावनी

तन-सुगन्ध शेष रही, बीत गयी यामिनी,

कुन्तल के फूलों की याद बनी चाँदनी

भूलो-सी एक छुअन बनता हर जीवित क्षण

छाया मत छूना ।

मन होगा दुस्त दूना ।"१

इन स्मृतियों को छू-छू करके कवि के मन का दुख दूना होता रहता है, किन्तु ये स्मृतियाँ ही उसकी पूँजी भी हैं । अब उसे लगता है कि उसके पास न यश है, न वैभव है, न मान है न सरमाया है तो भी उसके पास यह छवियों की चित्रगन्ध तो फैली हुई है ही । परन्तु इन प्रणयसिक्त स्मृतियों की अभिव्यक्ति से इतर भी श्री गिरिजा कुमार माथुर की वैयक्तिकता के और भी स्वर हैं जो उतने सघन तो नहीं हैं किन्तु जिन्हें हम स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं ।

कवि अपने जीवन को अधूरा मानते हुए भी अपनी अपूर्णता में ही पूर्णता ढूँढ़ता है और अपनी मरणशीलता में से ही अपनी अमरता को खोजता है । क्या हुआ कि सौन्दर्य-चित्त स्थायी नहीं होता, उसके क्षणस्थायी जीवन पर ही सहस्रो वर्षों का इतिहास न्यूँछावर हो जाता है । वैयक्तिकता का यह स्तर भी माथुर को अज्ञेय के निकट ले जाता है जो क्षण की विविक्तता और सम्पूर्णता को ही जीवन के चरम और महनीय सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं :

"सुन्दर चीजें ही मिटती हैं सबसे पहले
यह फूल, चाँदनी, रूप, प्यार
आँसू के अनगिन ताजमहल
रामों की ठहरी गूँज
असम्भव सपनों की सुन्दर मिठास
छट्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से,
पर मोती के इन विराजिदों
—इन धीलागिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्तु आकर ।"२

कवि भी अपनी अपूर्णता में ही पूर्ण होने का दावा करता है ।

श्री गिरिजा कुमार माथुर जनवादिता की तयामयित परिभाषाओं से अपने को एक हृद तक मुक्त धोषित करके अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को ही अपनी नाव्य का प्रेरणा-स्रोत मानते हैं । उन्होंने लिखा है :-

१ भीगा दिन दोपहरी—तार सप्तक, पृ० १३६ ।

२. छाया मत छूना—तार सप्तक, पृ० १७७ ।

१५६ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

“संवेदना के सीमित और वर्गीकृत आधारों के स्थान पर सर्वथा अन्तर्गत एवं आत्मानुभूत प्रतिक्रियाओं को अधिक मूल्यवान मानकर—कलात्मक वैभव के एक ऐसे असीमित और अनवलोकित क्षेत्र का उद्घाटन हो चुका है, जिसका पूर्वकालीन कवियों को भान भी नहीं था। छोटी से छोटी, निपट आत्मीय और निकटतम स्थिति के अनुभव-खण्डों को भी कविता के लिए अयोग्य नहीं समझा गया, बल्कि उन्हें ही सार्यक एवं मूल्यवान माना गया, क्योंकि यही छोटी, मृदु (डेलीकेट) प्रतिक्रियाएँ आदमी को अधिक स्वाभाविक और परिपूर्ण रूप से व्यक्त करती हैं, असामान्य घटनायें अथवा अनुभव नहीं।”^१

श्री माधुर अपने वक्तव्य में कविता के वैयक्तिक-स्वरूप को काफी स्पष्टता के साथ एवं तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनकी यह निश्चित मान्यता है कि हर व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूति का क्षेत्र ही सबसे अधिक प्रामाणिक है। उन्हीं के शब्दों में :

“स्वयंपरीक्षित अनुभव की बौद्धिक ईमानदारी का साहित्यिक अधिकार कवि को है, होना चाहिए, यह कवि-कर्म के लिए अनिवार्य तत्त्व है। यदि लेखक किन्हीं साहित्येतर दबावों में आकर स्वानुभव-साक्ष्य-विहीन सत्य को स्वीकार करता है तो वह कविता नहीं, एक गैर ईमानदार पदवस्तु की रचना ही करेगा।”^२

इस प्रकार श्री माधुर काव्य में वैयक्तिक-अनुभूतियों के योगदान के बड़े पक्षधरों में एक हैं। उनका कवि अपने सम्बन्ध में घोषणा करता है :—

“सब छिपाते थे सबाई
जब तुरत की सिद्धियों से
असलियत को स्थगित करते
भाग जाते उत्तरों से
कला थी मुबिया-परस्ती
मूल्य केवल भस्महत थे
मूर्ख थी निष्ठा
प्रतिष्ठा मुलम थी आइम्बरों से
बया कह
उपलब्धि की जो सहज सोली बीच मुझ में

१. अधूरा गीत—तार सप्तक, पृ० १४२।

२. तार सप्तक, दूसरा संस्करण, पृ० १४८।

बया कहूँ

जो शम्भु धनु दूटा तुम्हारा

तोड़ने को मे विचरा हूँ ।^१

श्री माधुर की उपलब्धि की जो सहज तीखी आँच है वह उनकी वैयक्तिक-
मनुभूति की ही आँच है । जब अजेय कहते हैं—

“अच्छे

अनुभव की सट्टी में तपे हुए कण दो कण

अग्नदण्डि के

भूटे मुखे बाध, चढ़ि उपलब्धि परायी

कि प्रकाश से

रूप-शिव, रूप सत्य के सृष्टि से ।^२

तो उनकी मान्यता श्री माधुर के बहुत निकट है । श्री गिरिजा कुमार माधुर
ने नितान्त वैयक्तिक स्तर पर झेले हुए उस तनाव को भी निःसंकोच भाव से
व्यक्त किया है, जो उनके व्यक्तित्व में दो धाराओं के विपरीत दिशा में बहने
से पैदा होता है । एक देह की पतवार से दो अलग-दिशाओं में जाती हुई
नीकायों को कब तक और कैसे खेते रहे ?

“नदियाँ, दो-दो अपार

बहुतों विपरीत छोर

कब तक मैं दोनों धाराओं में साथ बहूँ

जो मेरे मूलधार ।

नीकायें दो भारी

अलग दिशाओं में जातीं

कब तक मैं दोनों को एक साथ खेता रहूँ—

एक देह की पतवार—

दो-दो दरवाजे हैं

अलग-अलग क्षितिजों में

कब तक मैं दोनों की देहरियाँ साँधा कहूँ

१. तार सप्तक, पृ० १५० ।

२. नया कवि—तार सप्तक, पृ० १५८-१५९ ।

३. अच्छा खंडित सत्य—अरी ओ कण्ठा प्रभामय, पृ० १६ ।

ओ असिद्ध

एक साथ ।"१

गिरिजा कुमार भायुर की वैयक्तिक अनुभूतियों का रुमानी स्वर बाद में जीवन के अन्य अनुभवों से टकराता है। उन्हें यह भी लगने लगता है कि इस कोमलता के अतिरिक्त जीवन की ओर भी सच्चाईयाँ हैं, जिन्हें हमें देखना और अंगीकार करना पड़ता है। अपने बाहर बिखरे समाज की पीड़ा, समाज में व्याप्त दमन की स्थितियाँ भी उन्हें पीड़ित करने लगती हैं, लेकिन वहाँ भी वे यह मानते हैं कि शोषण, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्षों में भी किसी के प्यार का सम्बल हो शक्ति देता है। वे अपनी 'सैंतीसवीं वर्ष गाँठ' शीर्षक कविता में लिखते हैं

"सौँस लेने में रूकूँ तुम प्यार दो

मन, मनन, तन, अघर की रसघार दो

शक्ति दो मुझको, ससोनी, प्यार से

लड सकूँ मैं जुलूम के सत्तार से"

फिर भी उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में समाज के उत्पीड़ित और शोषित वर्गों की आवाज को ही ऊँचा किया है। परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी स्वीकार किया है कि "सामाजिक दायित्व के महत् की ओट में नकली मांगलिकता और निरीह शुभाशंसा वा जो आहम्बर रचा जा रहा था और अब भी तुरन्त सिद्धियों के लिए कभी-कभी रचा जाता है, उस पाखण्ड की कलाई भी नव-काव्य की खरी तथा निष्ठापूर्ण क्रिया-विधि पिघला कर बहा चुकी है।"२ इसलिए उनकी प्रगतिशीलता को उनके इस आत्म-साक्षात्कार के साथ ही जोड़कर समझना उचित है।

भारत भूषण अग्रवाल

तार सप्तक के कवियों में से कुछ तारों ने तो घोषित रूप से अपने को काव्य के क्षेत्र में अलग कर लिया जैसे डा० रामविलास शर्मा और कुछ कवि के रूप में कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ सके जैसे प्रभाकर माधवे। बीच की स्थिति में आते हैं भारत भूषण अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन। भारत भूषण अग्रवाल ने तार सप्तक के पहले संस्करण के वक्तव्य में लिखा था

१. असिद्ध की व्याख्या—तार सप्तक (द्वितीय सं०), पृ० १६५।

२. तार सप्तक (द्वितीय सं०), पृ० १४८।

प्रयोगशील कविता में वैयक्तिकता के अन्य स्वर : भारत भूषण अग्रवाल : १५६

"कर्म से पलायन ही मेरी कविताओं का स्पन्दन रहा। व्यक्तित्व के वे सारे ढंक जो दूसरों को काटने दौड़ते हैं, समाज में रहने-सहने से टूट जाते हैं; लेकिन इस पलायन का फल यह हुआ कि मैंने उन्हीं के विप को अमृत समझा। आज का हिन्दी कवि इतना दम्भी, अकर्मण्य और असामाजिक व्यक्तित्व का ब्यो होता है यह मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है।

और इसीलिए यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के संघर्ष को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-यत्न से लड़ना होगा जिसने उसको कोरा स्वप्नामिलापी और कल्पनाविलासी बना छोड़ा है।" कविता को शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करने की घोषणा तथा अपनी कविता को कम से कम पलायन मानने की स्वीकृति एक साथ व्यक्त की गई है। इस अन्तर्विरोध की परिणति स्पष्ट रूप से एक नये घरातल की तलाश के रूप में होनी थी, जिसे हम भारत भूषण जी के दूसरे संस्करण के वक्तव्य (पुनरुचः) में देखते हैं।

"पर नहीं, कविता अस्त्र नहीं है—न मूल्यवान्, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मानकर घना ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया और मेरी कविता ऐसी यत्न-लिपि कि उसमें अपनी मन का स्पन्दन सुनाई ही नहीं पड़ता था।" भारत भूषण अग्रवाल की यह आत्मस्वीकृति एक गहरा नैतिक महत्त्व रखती है और इसे उपहास की वस्तु नहीं बनाया जा सकता। सामाजिक दायित्व का कोई बाह्य आरोपण कवि के सृजन के घरातल को सतही बना देगा। समाज पर कला कवि की आत्मोपलब्धि के ही रूप में ग्राह्य हो सकती है। मुक्तिबोध में जो शोषण और दमन के विरुद्ध आक्रोश ब बोलती है, वह सबसे पहले उनकी आत्मोपलब्धि तथा आत्माभिव्यक्ति है। भारत भूषण जी ने इस आत्मस्वीकृति के माध्यम से नई कविता की वैयक्तिकता को एक बार पुनः सशक्त ढंग से रेखांकित किया है। इसी प्रेरणा से परिचालित होकर भारत भूषण अग्रवाल सौ साल बाद आनेवालों से सवाल पूछते हैं कि वे जब उनकी कविता को पढ़ेंगे तो उन्हें कैसा लगेगा? उसी कविता में वे पहले तो उन आनेवालों से हिटलर और गाँधी के बारे में सवाल पूछते हैं, परन्तु अन्त में खुद अपने बारे में पूछते हैं :

१. तार सप्तक—दूसरा संस्करण, पृ० ८८-८९।

२. वही, पृ० ११०।

१६० : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

“तुम जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएँ पढ़ोगे

तुम क्या यह न जान सकोगे

कि सौ साल पहले

जिन्होंने तन्मयता से विभोर होकर

आत्मा के मुक्त आरोहण के

या समस्त जीवन की ध्य के गीत गाये

वे आलें बन्द स्थि सपनों में डूबे थे ?”^१

भारत भूषण अग्रवाल ने अज्ञेय की भाँति ही आत्म-दान का स्वर भी मुखरित किया है। वे कहते हैं :

“लो

यह लो

ओ तुम अनजाने अतिथि आज घर के।

लो यह पराग

जो अपनी अशक्ति में मात्र गुनगुनाहट है

पर जिसे देकर

मे मेरे जोड़ समाधि बन जायेंगे

लो, यह आग

जिसको बिनगी में जलन तो क्या

ताप भी नहीं

पर जिसे देकर

यह मेरी अस्मि विमूर्ति बन जायेगी।”^२

भारत भूषण अग्रवाल ने अपने अह को न कुछ घोषित करते हुए अपना अन्तर अज्ञेय से सकेलित करने का प्रयास किया है, परन्तु अज्ञेय की बाद की रचनाओं में तो आत्म विसर्जन का वह चरम स्वर है, जिसके समक्ष भारत भूषण जी का अपने सर्वस्व को नगण्य घोषित करनेवाला स्वर भी फीका दिखता है

“ओ अप्रस्तुत मन” सकलन की कविता “हम नहीं हैं दीप” भारत भूषण की वैयक्तिकता के सन्दर्भ में एक विशिष्ट रचना है। इस रचना के माध्यम से उन्होंने अपनी वैयक्तिकता की सीमा रेखाओं को ही नहीं उकेरा है वरन् ‘अज्ञेय’ की वैयक्तिक मानसिकता से अपने अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास

१ आनेवालो से एक सवाल—तार सप्तक (द्वि० स०), पृ० ११४-१५।

२ दूँगा मैं—तार सप्तक (द्वि० स०) पृ० ११८-१९।

प्रयोगशील कविता में वैयक्तिकता के अन्य स्वर 'भारत भूषण अग्रवाल' : १६१

किया है। इस कविता की रचना अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' को सामने रखकर की गई है। जहाँ अज्ञेय अपने को नदी के द्वीप के रूप में व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"द्वीप हैं हम। यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बँठे नदी के ऋद्ध में।
यह बृहद् भूखण्ड से हम को मिलाती है।
और यह भूखण्ड अपना पितर है।"^१

यहाँ भारत भूषण का कहना है .

"हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार।
यह नहीं है शाप अथवा नियति अपनी
किन्तु यह तो बस समय की घात
क्षण भगुर परिस्थिति।
हम नदी के पुत्र हैं, पाषाणकारा से घिरे
दूर उसके ऋद्ध से, हम दूर उस स्रोतस्विनी से
तदपि उसके अंश, हम धंशज उसी के।"^२

दोनों कवियों की पूरी कविताओं को अलग-अलग, गहराई से पढ़ने पर जितना अंतर मुद्रा और प्रतीकों में है, उतनी खाई व्यञ्जना में नहीं है। दोनों अपने को नदी का पुत्र मानते हैं। दोनों अपने को स्रोतस्विनी का वंशज मानते हैं। किन्तु भारत भूषण अग्रवाल का आग्रह है कि उन्हें अज्ञेय से सर्वथा भिन्न धरातल पर माना जाये। इसके लिए उन्होंने सशक्त स्वरों का उपयोग किया है :

"तुम अगर हो द्वीप
कली रेत के बेझेल टीले।
धार की ही गोद में बँठे विषम व्यवधान,
तो भले ही तुम रहो कँचे महान,
पर कृपा कर यह न सोचो -
धार की हर लहर जो आती तुम्हारे पास
ठोकरती है वह तुम्हारी पंठ

१. नदी के द्वीप—हरी घास पर क्षण भर—अज्ञेय।

२. हम नहीं हैं द्वीप—ओ अग्रस्तुत मन—भारत भूषण अग्रवाल।

या तुम्हारी कीर्ति में वह छेड़ती है तान ।
 वह तो विक्ल है बेचैन तुम जो
 साँघ जाने के लिए
 सहज गति अनिच्छा पाने के लिए
 धारा बदलने के लिए ।”^१

इतना अन्तर रेखांकित करने के बाद भी पाठक जब भारत भूषण अग्रवाल के सरोवरत्व पर विचार करने बैठता है, तो उसे यही लगता है कि उसकी विशिष्टता उसके नदी से पृथक् अस्तित्व में ही है। सरोवर को भले वह लगे कि उसमें गति की असीमित धारा भी रही है, या उसमें सिन्धु की गहराइयों का स्या मेघ की ऊँचाइयों का प्यार भी रहा है, परन्तु बस इस नियति पर ही है कि सरोवर का अस्तित्व नदी से अलग है, जिसे वह झेलता ही नहीं है, स्पृहणीय भी समझता है। यही स्वर तो अज्ञेय के ‘नदी के द्वीप’ का भी है।

भारत भूषण अग्रवाल की वाद की रचनाओं में एक व्यंग्य का पुट आता गया है, जो उनकी वैयक्तिकता की एक नयी प्रवृत्ति है। ‘मैं, और मेरा पिट्टू’ और अनेक रचनाएँ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें व्यंग्य का एक ऐसा तीखापन है जो आज के व्यक्तित्व के दुर्हरेपन को वेधकर रख देता है

“एक धीखनेवाली मेरी इस देह में

बो धे हैं।

एक मैं

और एक मेरा पिट्टू।

मैं तो, खेर, मामूली-सा बलकूँ हूँ

पर, मेरा पिट्टू ?

वह जीनियास है ।”^२



१ हम नहीं हैं द्वीप—ओ अग्रस्तुत मन—भारत भूषण अग्रवाल ।

२ मैं और मेरा पिट्टू—तार सप्तक (द्वि० सं०) पृ० ११७१ ।

छठा अध्याय

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य

•

सामान्य पृष्ठभूमि

१५ अगस्त, १९४७ को देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, देश को दो खण्डों में बाँटकर। न केवल भौगोलिक रूप से, बल्कि पूरी तौर पर मानसिक रूप से भी उसका एक स्थायी प्रभाव राष्ट्र के सचेदनशील मानस पर पड़ना अशक्यम्भावी था। आजादी और बँटवारा, बँटवारा और आजादी जिस प्रकार देश की मानसिकता में बलात् एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह बैठायी गयी, उसे नितान्त असहज रूप में स्वीकार कराने का जो सम्बा दौर चला, १५ अगस्त, १९४७ उसकी चरम परिणति थी। महात्मा गाँधी जो देश की ऊर्ध्वोन्मुखी चेतना के प्रतीक बन गये थे, आजादी लेने की प्रक्रिया में पूरी तौर पर नकार दिये गये। उनकी सार्वजनिक घोषणा कि देश का बँटवारा मेरी साश पर होगा, उन्हीं के शिष्यों द्वारा एक तरफ कर दी गई। राष्ट्रीय कांग्रेस ने बिना गाँधी की सहमति के ही खण्डित आजादी स्वीकार करने का निर्णय ले लिया। पहले पहल अपनी सार्वजनिक घोषणा का अपमानजनक रूप से गाँधी को चवाना पड़ा।

आजादी का विगुल दिल्ली में घड़ रहा था और नया गाँधी अपने दो-चार साथियों के साथ नोवाखाली के जंगलों और दलदलों में उन मानव-पशुओं के बीच भटक रहा था, जो दूसरे इन्सानों के रक्त की पीने के लिए पागल हो रहे थे। उत्तर भारत के सारे नगरों की सड़कें खून से रंगी हुई थी। पश्चिमी पंजाब और सिन्ध से लाखों नर-नारी, आवाल-वृद्ध अपना सर्वस्व छोड़कर पूरब की ओर, बिहार से दूसरे लोग दूसरी दिशाओं में तथा पूर्वी बंगाल से पश्चिम की ओर भाग रहे थे। कितनी माँओं की गोद सूनी हुई, कितनी स्त्रियाँ बेया हुईं, कितनी नारियाँ का सनीत्व छिना, यह सब हिमाचल के बाहर है। इस प्रकार वह आजादी आई, जिसे मंत्र की भाँति हम जप रहे थे, जो हमारे स्वप्नों की रानी थी, जिसे हम नाना रूपों में अपनी कल्पना के नानन में विहँसते हुए देख चुके थे।

अब तक आज़ादी एक मूल्य थी, एक कल्पना और आदर्श थी, जिसके लिए हम सघर्ष कर रहे थे, बलिदान कर रहे थे और जिस सघर्ष के माध्यम से हम अपने देश में एक सकल्प तथा चरित्र को सन्निविष्ट कर रहे थे। अब आज़ादी एक वास्तविकता थी, जिसे हमें बरतना था, जिसके माध्यम से हमें देश को नये धरातल पर खड़ा करना था। यहाँ भी नये सकट आये। गाँधी की घोषणा थी कि आज़ाद भारत के नये शासक छोटे मकानों में रहेंगे, बड़े-महलों में अस्पताल और विद्यालय खोले जाएँगे। नये शासकों को यह भारत की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल प्रतीत हुआ। अंग्रेज़ वाइसराय के महल में राष्ट्रपति का और प्रधान सेनापति के महल में प्रधानमंत्री का निवास बना। उसी क्रम में बड़े-बड़े भव्य निवासों में हमारे नये कर्णधार मंत्री और ससस्त्रदल्य होकर प्रवेश कर गये। दिल्ली के आधुनिक परिवेश में आज़ादी की लड़ाई लड़नेवाली मनीषा जो अब तक जेलों और सड़कों पर जूझ रही थी, नया सत्कार बनाने लगी।

२६ जनवरी, १९५० को देश का संविधान लागू हुआ। गणतन्त्र की प्रतिष्ठा हुई और १९५२ के प्रारम्भ में देश का पहला आम चुनाव हुआ, जिसमें २१ वर्ष के ऊपर के सभी नागरिकों ने मत देकर राज्यों और क्षेत्रों में अपनी सरकारें बनाईं। आम चुनाव के कई अर्थ एक साथ ध्वनित हुए। पहला कि जो युवा पक्ति लोहिया, जयप्रकाश आदि के नेतृत्व में सन् ४९ की क्रांति में सबसे आगे थी, वह विरोध में समाजवादी दल के रूप में चुनाव लड़ी थी। देश का अधिकांश प्रमुख युवक उसके साथ थे, परन्तु उसे आम चुनाव में बहुत कम सीटें मिलीं। आज़ादी की लड़ाई के हीरो आज जनता में अपने को नये सिरे से पहचनवाने के सघर्ष में जूझ रहे थे। दूसरा, कि चुनाव में रुपया खर्च होना है, रुपया पूँजीपतियों के यहाँ मिलता है और पूँजीपति रुपया देने के बाद अपना खाता रखते हैं और चुनाव के बाद कई गुना मूल्य के साथ बसूलते हैं, उम्मीदवारों से नहीं, उनके माध्यम से जनता से। तीसरा यह कि कोई कितना भी छाटा हो, अछूत हो, मत उसका भी उतना ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान होता है। चौथा, कि वोट पाने का अच्छा रास्ता यह है कि अपनी जाति का भरोसा बनाये रखा जाय। ये सारे अर्थ और अनेक और भी, इस चुनाव ने देश के जनमानस के समक्ष खोलने शुरू किये।

क्रमशः दश में एक नये प्रकार की समृद्धि का दौर शुरू हुआ। पूँजीपति, बड़ा नेता और सरकारी अधिकारियों का भेल-जोल बढ़ने लगा। नये सबधों का सृजन होने लगा। देश की व्यापक निर्धनता के पहाड़ को तोड़ने के कठिन

काम में कौन फँस, अतः गरीबी के समुद्र में जहाँ-तहाँ अमीरी के नये द्वीपों का विकास और निर्माण होने लगा। योजना के नाम पर समृद्धि के नये मन्दिर बनने लगे, कहीं नगल में, कहीं दामोदर घाटी में। इन मन्दिरों से उड़नेवाली अगुरु धूम की गन्ध देश के अनन्त आकाश में खोती रही। गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, परिवार परस्ती, नाबराबरी, देश के प्रति उदासीनता न केवल बनी रही, बरन् बढ़ती गई। सिकके का यह एक पहलू है। दूसरा यह कि शिक्षा के नाम पर करोड़ों लोगों के बच्चों को टाट और पट्टरी वाली प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध होती रही, जिससे लौटने वाला बालक शाम को न केवल अपने शरीर और कपड़ों में कालिख पोते हुए लौटता था, बरन् मन में नयी सीखी गालियों को गुनगुनाता और दुहराता हुआ आता था। दूसरी ओर सपन्न वर्ग के बच्चों के लिए पब्लिक स्कूल उपलब्ध थे, जहाँ अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी मुहावरें और तौर-तरीके सिखाये जाते थे। पहिले समूह से मजदूर से लेकर लिपिक, अध्यापक, मध्यस्तरीय सरकारी सेवाओं के लोग निकलते थे, दूसरे समूह से प्रशासन के उच्चतम स्थान भरनेवाले शासक। यह खाई सुचिन्तित रूप से चलती रही। लोक-भाषा, लोक-भूषा, लोक-भवन एक ओर, सामन्ती भाषा, सामन्ती भूषा, सामन्ती भवन दूसरी ओर। पूरे देश में एक नयी राजनीतिक चेतना का उभार हो रहा था जो लोकतन्त्र एवं समाजवाद के अविच्छिन्न मूल्यों को स्वीकार करके देश की स्वाधीनता एवं समृद्धि को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील था। इस चेतना को बढ़ाने एवं बनानेवालों में श्री जयप्रकाश नारायण, डा० राममनोहर लोहिया एवं आचार्य नरेन्द्र देव का नाम अग्रणी माना जायेगा। ये नेता जहाँ एक ओर सन् दमालीस में देश की आजादी की क्रांति में अगुआई कर चुके थे वही नये आजाद भारत में इनका निश्चित सकल्प था कि व्यक्ति एवं समाज के स्वस्थतम सम्बन्धों की स्थापना हो। इन्हें न तो पूँजीवादी प्रजातन्त्र में आस्था थी और न तानाशाही समाजवाद में। दोनों की कदम परिणतियाँ इनके सामने थीं। इन नेताओं में दो श्री जयप्रकाश नारायण एवं डा० राममनोहर लोहिया तो अमरीका एवं यूरोप के जीवन का सीधा साक्षात्कार करके लौटे थे। इनकी निर्विकल्प आस्था एक ऐसे समाज के निर्माण में थी जो व्यक्ति की मूल्यवत्ता की पूरी रक्षा करते हुए शोषण एवं दमन से समाज को मुक्ति दिला सके एवं एक समृद्ध एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर भी सकें। डा० लोहिया तो बार-बार यही रेखांकित करते रहे कि मन एवं शरीर की भूख को बारी-बारी से मिटाने की कोशिश एक गलत कोशिश है। ये दोनों भूख साथ-साथ मिटाई जायगी तभी स्वस्थ समाज

वनेगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का दर्शन एक प्रकार से व्यक्ति की स्वतंत्रता का ही दर्शन था। स्वतंत्रता एवं संगठन, लोकतन्त्र एवं समाजवाद एवं अविच्छिन्न मूल्य के रूप में देने लिए थे। इसी चेतना का प्रभाव देश के युवा-मानस पर सर्वाधिक था।

इन्हीं राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में हमारे देश का मृज्ज-शील कवि-मलावार साँस ले रहा था, अपना रचना-कर्म कर रहा था। यह उसका सात्त्विक परिप्रेक्ष्य था। इस सात्त्विक परिप्रेक्ष्य के बाहर उसका बृहत्तर परिप्रेक्ष्य था। जहाँ विज्ञान और बुद्धिवाद के माध्यम से ग्रहणाण्ड के नये-नये रहस्य खुल रहे थे, दूरी और बाल की सीमाएँ सिमट रही थी। वह विज्ञान ही हमें ग्रहणाण्ड की विराटता और उसकी पेचीदगी को और गहरे तथा रहस्यमय परदा में आवृत्त करता जा रहा है। विज्ञान ही हमें बता रहा है कि पृथ्वी के एक सेक्टेड में एक लाख छियासी हजार मील की दूरी पार करनेवाला बाला प्रवाण हिमयुग में चलते हुए बहुत से पिण्डों से अभी पृथ्वी तक पहुँचा ही नहीं। वितनी दूरी पर हैं वे पिण्ड। विज्ञान ही हमें बता रहा है कि एक परमाणु जिसे हम शक्तिशाली इलेक्ट्रॉनिक अणुबीक्षण यंत्रों से भी नहीं देख सकते, अपने भीतर एक सश्लिष्ट संरचना संजोये हुए है। उसके भीतर इलेक्ट्रान, प्रोटान, पाजीट्रान, न्यूट्रान विभिन्न नियमों के अन्तर्गत व्यवस्थित हैं। एक इलेक्ट्रान के हटने या बढ़ने से ही वह विद्युत्तीय स्तर पर क्रियाशील हो जाता है। विज्ञान ही हमें यह भवेत् भी देने लगा कि अपने सौर-मण्डल में पृथ्वी जिते तापक्रम, दबाव और वायु-मण्डलीय स्थितियों में जीवन के लिये उपयुक्त है, वैसे ही अन्गान्य अनेकों सौर-मण्डलों में पृथ्वी के ही समान परिस्थितियाँ होंगी, जीवन होगा, सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ होंगी। परन्तु अपने ही सौर-मण्डल की सीमा में बँधा मनुष्य बहुत छलांग मारता है तो विज्ञान की सहायता से मंगल और शुक्र तक पहुँचने की बात सोचता है। पहुँचा तो वह अभी अपने ही उपग्रह (चन्द्रमा) तक है। कैसे होंगे वे लोग, उनकी दुनिया।

वाज के परिप्रेक्ष्य का एक आयाम ससार के पैमाने पर और भी है। वह भी विज्ञान से ही जुड़ा है। प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, तीसरे की समावना और अगभावना के बीच हथ जोड़ी रहे हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्ध-सामग्री और अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से हम इतना आगे बढ़ गये हैं, कि सचमुच के बड़े और शक्तिशाली राष्ट्र बटन दबाकर सारे ससार को नष्ट कर सकते हैं, जैसे हम बटन दबाकर बल्ब जला लेते हैं।

एक तीसरा पक्ष और भी है। गरीब और अमीर के बीच की लड़ाई। यह लड़ाई एक निश्चित ढर्रे पर कई देशों में लड़ी गई। क्रांतियाँ हुईं। अब एक ही रास्ते से क्रांति करनेवाले देश एवं दूसरे को दबोच रहे हैं। लघु और महत् की जो चर्चा श्री विजयदेव नारायण साहू ने विस्तार से की है उसका सवध इन परिस्थितियों से जोड़कर उसकी अन्य परिणतियों को भी रेखांकित किया जा सकता है। परन्तु उसमें न पढ़कर मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' एवं 'नई कविता' के विभिन्न अंकों में संकलित सभी कवियों की सर्जनात्मक मन स्थितियों पर इन तात्कालिक स्थितियों का गहरा प्रभाव है। कही तो वह उन्हें सामान्य जन की सामान्य स्थिति से सहज ढंग से जोड़ते हुए बोलचाल की सहज भाषा में रचना करने की प्रेरणा देती है, वही उन्हें व्यंग्य एवं कबोच की भाषा से लैस करती है, कही उनके अन्दर इन दुःखी स्थितियों से अपने को उठाकर प्राचीन सांस्कृतिक प्रतीकों और रूपकों के सहारे नयी मानसिकता के निर्माण और सृजन की प्रेरणा देती है, कही उन्हें नितान्त अकेलेपन और अजनबीपन का बोध कराती है। नयी कविता की जो विभिन्न अन्तर्धाराएँ हैं, उनमें प्रत्येक कवि अपनी विशिष्ट प्रतिभा और दृष्टि के साथ इन स्थितियों से टकराता है और अपने सृजन का रास्ता बनाता है। संगठन एवं आरोपित प्रगतिशीलता के विरोध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उद्घोष नयी कविता का मूल स्वर माना जा सकता है।

रघुवीर सहाय

'दूसरा सप्तक' के कवियों में रघुवीर सहाय की वैयक्तिक रेखाओं को पहचानने का प्रयास अपने आपमें एक अनुभव है। रघुवीर सहाय ने 'नयी कविता' के एक अंक में अपनी कविताओं की व्याख्या करते हुए लिखा है 'अपने देश की विशेष सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में लगभग हर क्षेत्र में, जहाँ उपलब्धियाँ व्यक्ति के प्रयत्न से होती थी, यही हो रहा है। व्यक्तिगत स्तर का नीचे गिरना या दुस्साध्य होते जाना और एक मझोले सामूहिक स्तर का प्रकट होना। मानवीय अनुभूति के क्षेत्र में भी यही हो रहा है : जन-जीवन में मानवीय मूल्यों का भी एक घटिया सामूहिक प्रतिमान उभरता दिखाई दे रहा है और यह कलाकारों को एक बहुत तीखी चुनौती है।' इस स्वीकृति के द्वारा रघुवीर सहाय ने एक अत्यन्त कड़वी सच्चाई हमारे सामने रखी है जिसका कुछ सनेत ऊपर भी किया जा चुका है। इस 'मझोले

सामूहिक स्तर' में व्यक्ति का निजी वैयक्तिक स्तर दूब रहा है। परन्तु रघुवीर सहाय ने इस चुनौती का सामना अपनी प्रारम्भिक कविताओं में भी किया है। उन्होंने अपनी एक प्रारम्भिक कविता में लिखा है

"मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है,
छुपके से एक पुराना कागज पढ़ता हूँ,
मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ,
यह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पानेवाला
काफ़ी दिन बीते गुजर चुका।
उसके अक्षर-अक्षर में हैं इतिहास छिपे
छोटे-मोटे
ये जो मेरे अपने, वे कुछ विरथास क्षिपे,
संशय केवल इतना हो उसमें व्यक्त हुआ,
क्या मेरा भी सपना सच्चा हो सकता है ?"^१

इन पक्तियों में सामान्यता के बीच से उभरता हुआ एक विशिष्ट स्वर साफ सुनाई दे रहा है। किन्तु तीखी अनुभूति कितने सहज ढंग से व्यक्त हो सकती है। अपनी आगे की काव्य यात्रा में रघुवीर सहाय की यह सादगी निखरती जाती है। कवि की यही सहज विशिष्टता उसी दौर की एक अन्य कविता में व्यक्त हुई है। वे लिखते हैं

"बन नहीं सका मैं छुद ही अपना उदाहरण
इसलिए कि लाजा कर पाऊँ उसको
पड़ते हैं जैसे फूल चनेली के बासी
निर्गन्ध हुआ जाता है मेरा वसंमान,
इसलिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाय
बढ़ते बढ़ते में हुआ जा रहा या छोटा"^२

इन पक्तियों में वे सारे बीज एक साथ दिखाई पड़ते हैं, जो उनकी आगे की कविता में अकुरित होते हैं। अपने को अपना उदाहरण न बना पाने की आत्म-स्वीकृति, अपने वर्तमान को निर्गन्ध होते हुए देखने की पीड़ा, अपने को

१ 'भला' दूसरा सप्तक, पृष्ठ १६०।

२ संशय " " १६३।

कुछ बड़ा कर सकने की ललक, बढ़ने की प्रक्रिया में ही जैसे छोटे होते जाने की अनुभूति में सारी आत्मस्वीकृतियाँ रघुवीर सहाय के आगे के वैयक्तिक विकास को निर्दिष्ट करती हैं।

कवि प्रणय की घड़ियों को लम्बा नहीं करना चाहता क्योंकि उसे तो बहुत आगे जाना है, चलते ही जाना है। प्रेम जरूरी है, परन्तु उसके पार की राह तो और भी जरूरी है।

‘प्राण मत गाओ प्रणय के गान,

पंथ लगता है अधिक सुनसान,

तेरे गीत गाने में।

दृष्टि जाती है जहाँ तक, राह जाती है वहाँ तक,

और इतना तो मुझे अनुमान ही से ज्ञात—

राह मेरी और भी है दृष्टि के परचात्—

अ न छाया कर दुपट्टे से मुझे

अब नहीं अबसर कहे बिधाम

कम होगा नहीं यह घाम, तेरी प्रीति पाने से।”

परिस्थितियों के घाम और निजी प्रीति के सघर्ष में कवि यह निर्णय करने में देर नहीं लगाता कि उसे दुपट्टे की छाया यथाशीघ्र छोड़ देनी है, क्योंकि राह बहुत लम्बी है, लक्ष्य बहुत दूर है। प्रेम को जीवन का सर्वस्व समझने का भाव नयी कविता में नहीं है। नई कविता के पूर्ववर्ती प्रयोगशील कविता के दोनों विशिष्ट कवि अज्ञेय और मृत्तिबोध आस्था के कवि हैं। दोनों का घरातल भिन्न है, दोनों की रचना प्रक्रिया भी भिन्न है, दोनों के पार्थिव परिवेश और जीवन-सघर्ष भी भिन्न है, परन्तु दोनों में मनुष्य पर अगाध विश्वास है। दोनों अपनी आस्था में अडिग हैं। दोनों निरंतर ऊर्ध्वोन्मुख बने रहना चाहते हैं। परन्तु नई कविता सामान्य सहजता अथवा सहज सामान्यता की कविता है। और रघुवीर सहाय तो निर्विवाद रूप से सामान्य के प्रति अपनी संवेदना की ज़रम सघन बनाते चले जानेवाले कवि रहे हैं। उनकी भाषा, उनका मुहाविरा नितान्त सहज होते हुए भी क्रमशः गहराई में उतरता जाता है। प्रारम्भ की एक श्रांति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है

“अब मैं गन्धियों में चलते हुए गाता नहीं

अतः तुम्हें सम्भवतः मेरा आना नहीं जान पड़ा

मेने भी छोड़ी तो, अनिम मिलने की प्रत्याप्ता
भव इनमे से परिचय पय पर भी नहीं हो तुम
गिर भी चला जाऊँ मैं

इससे तुम्हारा क्या बनता या मेरा विगड़ता है ।^१

बानचीन के सहजे में गहरी व्यंजना की क्षमता को उभारने की वना रघुवीर सहाय में बहुत ही यजोड है। इन क्षमता का विग्रेषण उनकी रचना दृष्टि को समझते हुए ही किया जा सकता है। रघुवीर सहाय ने अपनी रचना-दृष्टि का खुलासा करते हुए लिखा है —

‘प्रगतिशील आन्दोलन ने कवि की रचना-शक्ति के साथ एक बहुत बड़ा छल किया था, जो वास्तव में मानव जीवन का दर्शन हो सकता था उसे उसने एक मानवैतर दृष्टि बनाकर छोड़ दिया, छायावाद जिस वायवी विराट् सौन्दर्य की खोज में थक चुका था उसमें मुखाबले इस भूर्त, जेय लक्ष्य का सहारा ज्यादा आसानी से लिया गया, पर दोनों में मानव केवल परोक्ष में था। विश्वजनीन ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ने अब बलान्तर और जन की आम्ने-आम्ने छाया कर दिया है। उनमें बीच से सोदृश्यता की सुगम तात्कालिक सुविधाएँ हट गयी हैं। कहा जा सकता है कि बलाकार आज मानवीय यथार्थ का नग बदल सम्पर्क करता है—और इसने उस पर एक खास तरह की जिम्मेदारी डाल दी है। यह जिम्मेदारी खुद उसकी जिम्मेदारी है, उसका हिमाक्ष लेनेवाला पहिले की तरह कोई दूसरा नहीं है। संक्षेप में यह जिम्मेदारी एक व्यापक मानवीय शिव को बदलते हुए सामाजिक तथ्य के साथ-साथ निरन्तर आत्मसात् करते रहने की है। यह एकान्त रूप में एक विशिष्ट व्यक्ति की जिम्मेदारी है क्योंकि यह मानवीय शिव कोई सामूहिक प्रतिमान नहीं है, वह शाश्वत है और सार्व-जनीन है। इसलिए कवि को स्वयं एक विशिष्ट मानव बनना होगा, उसके बिना एक सामूहिक मानवीयता का खतरा उसके लिए और भी बड़ा साबित हो सकता है।’^२

सामान्य बने रहते हुए भी एक विशिष्ट दायित्व-बोध से युक्त रहना तथा उस बोध के साथ सृजनशील बने रहना रघुवीर सहाय की वैयक्तिकता की पहचान है। इसीलिए वे आगे कहते हैं—‘यह पूरे में पूरा हिस्सा लेना जिन्दगी के तमाम मैदानों में—कला में हिस्सा लेने की पहली शर्त है और यदि

१ लापरवाही—दूसरा सप्तक, पृष्ठ १६६।

२ नयी कविता, अंक ४, पृष्ठ ३२-३४।

बलावार नहीं पर सामान्य प्राणी है तो इस शर्त के पालन में जो बाधाएँ आती हैं उनको झेलने में है। कला के नाम पर कोई रियायत माँगी बिना, वह भीरो की तरह इनको भेजे, व्यक्तित्व के बँट जाने से संपर्प करे इच्छानुसार जब और जैसे कर्म करने की अपनी स्वाधीनता की रक्षा में लड़े और प्रसंगवश घायल होता हो तो वह भी हो।^१ रघुवीर सहाय की कविता में उनकी यह दृष्टि प्रतिफलित हुई है। वे लगातार अपने व्यक्तित्व को विभाजित होने से बचाने का संपर्प करते हैं, अपनी स्वाधीनता की रक्षा की लड़ाई लड़ते हैं और प्रसंग-वश घायल होते हैं तो परवाह भी नहीं करते। उनकी एक कविता की इन पक्तियों में उनकी आत्मरक्षा का यह तेवर साफ झलकता है —

“मानो कि आपही देखें कि ओ कवि नहीं हूँ
अपनी एक भूति बनाता हूँ और ढहाता हूँ
और आप कहते हैं कि कविता की है
कदा मुझे दूसरों की तोड़ने की फुरसत है ?”^२

एकाकीपन की जो अनुभूति नयी कविता के अनेक कवियों की चिरपरिचित अनुभूति है, उसका दर्शन रघुवीर सहाय के यहाँ भी मिलता है

“पर मेरा एक जीवन अपना है
जिसमें मैं भवेला हूँ
जिस नगर के गलियारों, फुटपाथों, मैदानों में घूमा हूँ
हँसा-खेला हूँ
उसके अनेक हूँ नागर, सेठ, म्युनिसिपल कमिशनर
नेता

और सीतानी, शतरंजवाज और आचार्य ।

पर मैं इस हाहा हूही नगरी में भवेला हूँ ।”^३

भीड़ में अकेलेपन का यह एहसास जहाँ कुछ नये कवियों में एक विवशता की स्थिति लगता है, वहाँ यह अजेय, मुक्तिवोध और रघुवीर सहाय में यही उनकी शक्ति का द्योतक है। उसी कविता में आगे रघुवीर सहाय कहते हैं

सारे ससार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार
सभी मुझे करेंगे, दो चार को छोड़, कभी न कभी ध्यार

१ वही, पृ० ३४ ।

२ नेता क्षमा करें—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ १४ ।

३ नेता क्षमा करें—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ १४ ।

मेरे सृजन, कर्म, कर्तव्य, मेरे, आश्वासन, मेरी स्थापनाएं
 और मेरे उपार्जन, दान, व्यय, मेरे उधार
 एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे ये मेरे महत्त्व
 डूब जायेगा तन्मोनाद कवित्तरस मे राग मे रग मे मेरा यह ममत्व
 जिससे मैं जीवित हूँ
 मुझ परितृप्त को तब आकर बरेगी मृत्यु—मैं प्रतिकृत हूँ
 पर मैं फिर भी जिर्जंगा
 इसी नगरी मे रहूँगा
 काली रोटी लाऊँगा और ठण्डा पानी पिऊँगा
 क्योंकि मेरा एक और जीवन है
 और उसमे मैं अकेला हूँ ।”^१

यह स्वर अज्ञेय के बहुत निकट है। अज्ञेय अपने सगे और भाइयों से शिकायत करते हैं कि वे अतृप्त मर कर प्रेत क्यों हो गये और रघुवीर सहाय घोषणा करते हैं कि मृत्यु जब उनका वरण करेगी तो वे परितृप्त रहेंगे, इसलिए मर कर भी नहीं मरेंगे। रघुवीर सहाय के व्यक्तित्व पर भारत भूषण अग्रवाल की यह टिप्पणी सर्वथा उचित लगती है “भीड़ से घिरा एक व्यक्ति जो भीड़ बनने से इनकार करता है और उससे भाग जाने को गलत समझता है—रघुवीर सहाय का साहित्यिक व्यक्तित्व है।” इसी बात को रघुवीर सहाय स्वयं दूसरी तरह से स्वीकार करते हैं “पहले हम उस दूसरी दुनिया को देखें जिसमे हमें पहले से ज्यादा रहना पड़ रहा है लेकिन जिससे हम न अलगाव साध पा रहे हैं न लगाव ।”^२

जिस खोखले परिवेश में कवि को बराबर रहना पड़ता है, वह धीरे धीरे कवि की मानसिकता में एक व्यापारमक किन्तु सृजनशील भाव सन्निविष्ट करता जाता है। व्यंग्य का जो रूप हम लक्ष्मीकान्त वर्मा में देखते हैं, रघुवीर सहाय में उसका स्वर अधिक सूक्ष्म और सहज है। कचोट और तीखापन दोनों में है किन्तु रघुवीर सहाय में कचोट ही ज्यादा है जबकि लक्ष्मीकान्त वर्मा में तीखापन अधिक है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की तीखी व्यञ्जना में उनकी अपनी निजी जिन्दगी के अभाव और अतृप्ति की व्यञ्जना अधिक है जबकि रघुवीर सहाय समाज और राजनीति के खोखलेपन पर प्रतिक्रिया करते हैं, जब वे कहते हैं

१ वह जो बार-बार मरता है—नयी कविता, अंक ४, पृष्ठ ३६।

२ “वक्तव्य”—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ ६।

नयी कविता में 'लोक' एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य 'रघुवीर सहाय' : १७३

“यही मेरे लोग हैं
यही मेरा देश है
इसी में मैं रहता हूँ
अपने आप और बेकार”^१

तो इसमें जहाँ अपने अपने आप पर और अपनी बेकारी पर व्यंग्य है, वही उससे भी अधिक तीव्र स्वर में 'मेरे लोग', 'मेरा देश' पर चोट की गई है।

रघुवीर सहाय का आत्म विश्वास अज्ञेय और भुक्तिबोध जैसा आत्म-विश्वास नहीं है, परन्तु उसका आयाम ऐसा है जो एक अलग धरातल पर पाठक को स्पर्श करता है। “आत्महत्या के विरुद्ध” शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

“कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
म दूटे न दूटे तिनिसम सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर दूटेगा दूट
मेरे मन दूट, एक बार सही तरह
अच्छी तरह दूट, मत झूठमूठ ढब, मत रुठ।”

इन पंक्तियों में एक आत्म विश्वास है जिसकी परिणति निराशा के वर्तमय में होती है जो अपने लिए निर्वेद और पाठक के लिए समवेदना बनकर नि गूँ हो रहा है। एक सवेदनशील कलाकार के लिए मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द सबसे तीखा एहसास है, जिसे जीते हुए कवि ईमानदारी से सही तरह दूटने की बात कहता है। यह सही तरह दूटना क्या है, जो झूठमूठ ढब से, रुठने से तथा झूठने से भिन्न अर्थ रखता है और कवि को एक ताप देता है ? और वह आत्म-विश्वास किधर दुबका हुआ बचा रह गया है, जो कहता है कि अगर मैं बोलूँगा तो कुछ होगा जरूर ? क्या वह होता बाहर की दुनिया में घटित होनेवाली स्थिति है या मात्र अन्दर के एक कायर के टूटन में ही सीमित रहनेवाली सम्भावना ? ये सारे प्रश्न पाठक के मन की उद्देगिता करते हैं।

सच्चाई यह लगती है कि कवि जिस खोखले और मूक-मूर्ख गमन में रह रहा है, उसकी भूत्यानुभूति निरन्तर चोट खा रही है, परन्तु दर्द मरना नहीं चाहती, न तो चोट खाकर और न आत्महत्या करके। यदि इस दुनिया के पार की सच्चाई की तलाश की प्रवृत्ति से भी आता है, अब वह अपनी मृज्जनामक

प्रतिभा का पूरा उपयोग इस प्रतिबल परिवेश से जूझने में ही करता है। इस जूझने की प्रक्रिया में वह व्यग्य का सहारा लेता है, जो अत्यन्त गहराई में उसकी कड़वाहट और ईमानदारी दोनों की रक्षा करना है। उसके प्रतीक मुसदीलाल, नरेन, रामलाल, भैरू, हरचरना, नेता, सभाध्यक्ष आदि हैं, एकलव्य, केशवप्रभु, वसुप्रिया, अश्वत्थामा आदि नहीं। वह अपने को कैंटेसी के लोक में भी नहीं से जाता है। इस प्रकार रघुवीर सहाय का कवि वैयक्तिक होते हुए भी निर्व्यक्ति है। जब रघुवीर सहाय कहते हैं कि मोनतन ने इन्सान "को शानदार जिन्दगी और कुत्ते के मौत के बीच" बाँप लिया है तो यह सवाल सहसा पाठक के मन में कौंध आता है कि कवि की स्थिति अपने आप में कहीं है—इन्सान की शानदार जिन्दगी के पास अथवा कुत्ते की मौत के? आज वे निश्चय ही बेहतर जिन्दगी के पास हैं, परन्तु कुत्ते की मौत मरने वाले इन्सान की पीड़ा उन्हें व्यथित करती रही है, पूरी तौर पर। डा० इन्द्रनाथ मदान से सहमत हुआ जा सकता है कि "रघुवीर सहाय दूढ़ने और न दूढ़ने के बीच तनाव की स्थिति में हैं।"^१

व्यग्य के बीच कहीं-कहीं निरीह सरलता रघुवीर सहाय की विशिष्टता है

‘चिद्दी लिलते लिलते छुटकी ने पूछा

पया दो बार लिल सहेते हैं कि माव

भाती है ?

एक बार मामी की एक बार मामी की ?

नही दोभो बार मामी की।”^२

व्यग्य के साथ आत्म-रक्षा का स्वर भी रघुवीर सहाय की अपनी विशिष्टता है। 'मूर्ख, मूर्ख मेरी ओर' जैसी कविताएँ इसका उदाहरण हैं। रघुवीर सहाय की वैयक्तिकता का एक स्वर भीड़ के प्रति नफरत का स्वर है। परन्तु वह नफरत साधारण नफरत नहीं है। वह खास, खास, खास नफरत है। तीन-तीन बार आवृत्ति के साथ अभिव्यक्त जो यह खास नफरत लोगों के लिए कवि में है, कैसी है ?

जैसे एक उजाला उजाड़-सा शीतल

और उसमें एक हरा अँसुवा

१ आधुनिकता और हिन्दी साहित्य—डा० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ ३५।

२. आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ २६।

और उस पर आकाश के रंगों की झलक
जैसे कोई एक आँख से हँसे एक से रोये
यह मेरी नभरत थी और मैं अकेला था और शाम थी
न कोशिश न कोई काम था न कोई दर्द"^१

एक आँख स हँसने और एक से राने की स्थिति नितान्त असंभव-सी लगने पर भी कवि की मन स्थिति का सच्चा और दारुण चित्र है। फिर वह नफरत कैसी होगी, यह पाठक के लिए सोचन को छोड़ दिया गया है। कवि शहर से बाहर नितान्त अकेलेपन में एक निराश पहाड़-सा अनुभव कर रहा है, शहरों के पहाड़ को अनुभव कर रहा है। वह क्षण ऐसा है जिसमें कवि को लगता है कि वह अत्यन्त सहज भाव से भर सकता है। इस पृष्ठभूमि में ही उसकी नफरत को भी समझा जा सकता है।

कवि की कोमल प्रणय सिक्त अनुभूति उसकी कविता में जहाँ-तहाँ देखने को मिलती है। एक चित्र देखा जाय —

एक रंग होता है नीला
और एक वह जो तेरी बेह पर नीला होता है
इसी तरह लाल भी लाल नहीं है
बल्कि एक शरीर के रंग पर एक रंग
दरअसल कोई रंग कोई रंग नहीं है
सिर्फ तेरे कन्धों की रोशनी है
और कोई एक रंग जो तेरी याँह पर पड़ा हुआ है।"^२

छायावादोत्तर कवियों वचन, नरेन्द्र शर्मा और अचल आदि से कितना भिन्न है यह चित्रण ? गिरिजा कुमार माथुर और धर्मवीर भारती से भी यह सर्वथा भिन्न है।

रघुवीर सहाय की व्यंग्य से लदी कविताओं में भी उनका वैयक्तिक स्वर कौश्र जाता है। पूरे परिवेश का चित्रण करते हुए कवि की पत्तियाँ नितान्त वैयक्तिक हैं —

“भोड में मैलछोरी गन्ध मिली
भोड में आदिम मृषता की गन्ध मिली
भोड में

१ शहर से बाहर—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ ३६।

२ तेरे कन्धे—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ ४७।

मुझे नहीं मिली मेरी गन्ध
जब मैंने साँस भर उसे सूँघा”^१

रघुवीर सहाय की व्यथा के साथ ही उनके व्यग्य को अनिवार्य रूप से जोड़कर समझा जाना चाहिए। स्वयं उन्होंने एक स्थान पर लिखा है “जब घने कष्ट में मन गम्भीर हो उठे जब व्यथा में जो व्यग्य है वह भी वहाँ हो— नहीं तो व्यथा ही कैसे वहाँ रहेगी।”^२ व्यथा और व्यग्य का सम्बन्ध उनकी बहुत-सी शविताओं में देखा जा सकता है।

अपनी विवशता का चित्र इन शक्तियों में बड़ी ही सफाई से प्रस्तुत है

“कुछ भी लिखने से हँसता और निराश

होता हूँ मैं

कि जो मैं लिखूँगा बीसा नहीं लिखूँगा

दिखूँगा या तो

रिचियाता हुआ

या गरजता हुआ

किसी को मुचकारता

किसी को धरजता हुआ

अपने में अलग सिरजता कुछ अनाथ

मूल्यों को

नहीं मैं दिखूँगा।”^३

अपने में अलग अनाथ मूल्यों का सृजन करते हुए न दिखे जा सकने की पीड़ा रघुवीर सहाय की है। मूल्यों के अनाथ होने की बात कितनी कचोट से भरी है।

रघुवीर सहाय के व्यग्य का पैनापन तथा उसमें निहित व्यथा की कचोट उनकी बाद की कृति ‘हँसो, हँसो जल्दी हँसो’ में और तीखेपन के साथ उभरती है। एक स्थान पर वे लिखते हैं

“तब

आप समझ सकते हैं कि एक मरे हुए आदमी को

मसखरी कितनी पसन्द है

पर

१ भीड़ में मैकू और मैं—आत्महत्या के विरुद्ध, पृष्ठ ५१।

२ सीढ़ियों पर घूँप, पृ० २५।

तब मैं पूछूँगा नहीं कि सी मोटी गरदन
भुकी है
बुद्धि के बोझ से
थड़ा से
कि लग्जा से"१

मरे हुए आत्मी की मसखरी । किन्तु विडम्बनापूर्ण है यह मन स्थिति । फिर भी इसमें कुछ है जो अपनी गतानि और पीडा के मर्यान्तिक क्षण में हँस सकता है । एक दूसरे स्थल पर वे आज के युग के स्खलन पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं ।

"इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग
जो खुशामद आदतन नहीं करता
कहीं से ले आओ निर्धनता
जो अपने बदले में कुछ नहीं माँगती
और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो ।"२

कवि यह देखकर शर्म से झुक जाता है कि पूरे समाज में एक आदमी भी ऐसा नहीं दीखता जो आदतन खुशामद न करता हो । एक सीमा के बाद स्खलन और गिरावट कोई उत्तेजना नहीं पैदा करती । उसी बिन्दु पर कवि की यह हँसी की मुद्रा है जो इस कविता-सकलन की विभिन्न रचनाओं में विभिन्न कोणों से झलकती है । राजनीतिक सदर्भ अधिन है, परन्तु उन पर जो कवि की प्रति-श्रियाएँ हैं, उनकी सूक्ष्मता और सहजता तात्कालिकता की सीमा का अतिव्रमण कर जाती है और एक गहरी मूल्यानुभूति से जुड़ जाती है । इस सकलन की अन्तिम कविता इस दृष्टि से बेजोड़ है । कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"संस्कृति मंत्री से कहा राजा ने देखा मंत्री जो
हर एक दिवा के भीतर बितने हो प्राचीन बत्तारूप—
क्या तुम्हें यह उपयोगी नहीं दिखाई देता ?
क्यों नहीं तुम सेकड़ों बत्तारूप इसी काम पर लगा देते

१ आज का पाठ है—हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृष्ठ ८ ।

२ आनेवाला खनरा—हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ० १० ।

कि वे उनसे के पुराने रूप लेकर नयी रचनाएँ करें ?

क्या तुम नहीं समझ पाते कि यह उनको

एक अनिश्चित आगामी बात रचने से रोके रखने का

यह सरलतम ढंग है ? ११

राजा का मंत्री को सलाह देने का यह स्वर कितनी चालाकी में भरा है, इस पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। परन्तु एक बात यहाँ ध्यान में रखनी होगी कि प्राचीन सांस्कृतिक सन्दर्भों और प्रतीकों के माध्यम से अपनी सर्जना का ताना-बाना बुनने वाला प्रत्येक भारतीय कलाकार राजा और मंत्री के पङ्खट का ही शिकार है, ऐसा कथन स्थिति का अनि सरलोकग्न होगा और यह इस देश की मृजल-रत उत्कृष्टतम मनीषाओं के साथ गहरा अभ्यास होगा। सद्यः प्रकाशित नरेण मेहता की कृति 'उत्सवा' अपने आपमें एक उपनिषद् लगती है। उसकी रचना भूमि रघुवीर सहाय के तात्कालिक घरातल से निश्चय ही भिन्न है। वह चेतना के उस आयाम को प्रस्तुत करती है, जहाँ वे सारी विसंगतियाँ, विडम्बनाएँ और स्थलन धारार्य विलुप्त हो चुकी हैं। जहाँ सृष्टि और सृजन, ईश्वर और मनुष्य एक आयाम में मिलते से लगते हैं। तो आज की कुण्ठाओं एवं विसंगतियों की एक परिणति यह वैष्णवी मनोभूमि भी हो सकती है।

डाक्टर धर्मवीर भारती

'दूसरा सप्तक' के कवियों में वैयक्तिकता की दृष्टि से डा० धर्मवीर भारती का कवि-व्यक्तित्व बड़ी ही कोमलता में आगे बढ़ता है। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ जो दूसरा सप्तक या 'ठण्डा लोहा' में प्रकाशित हुई, उनकी निजी अनुभूतियों की सशक्त प्रतिध्वनि है। प्रणय की भारती ने बड़े कोमल और पूजा-भाव से ग्रहण किया है। य भारती ही हैं जो अपनी प्रियतमा के पाँवों की पूजा करते हैं। भारती की प्रणयाकुलता कई अर्थों में वञ्चन और फिर गिरिजा कुमार माथुर की रमानियन के निम्न है, परन्तु अन्तर यह है कि भारती के प्रणय में सब कुछ के बाद या शायद पहले एक वैष्णव भाव भी है जो उनकी ऐसी सभी रचनाओं में ओन-प्रोत है। अपनी प्रियतमा के पाँवों की "शरद के चाँद", "लहर पर नाचते ताजे कमल", "दो मामूम बादल", "सोन जूही की पछुरियों पर पने दो मदन के बान", "बेहोष नाजुक और मृदुल

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य - 'भारती' : १७६

तूफान" "दुबकी और सहमी हुई दो पूर्णिमायें" आदि कहने के बाद अन्ततः कवि कहता है :

‘ये बड़े सुकुमार
इनसे प्यार क्या ?
ये महज आराधना के वास्ते
जिस तरह मटकी सुबह को रास्ते
हरदम बताये शुक्र के मज फूल ने
ये चरण मुझको न हँ
अपनी दिशाएँ भूलने ।’^१

प्रणय का पूजा-भाव भारती की अन्य प्रारम्भिक कविताओं में भी लक्षित होता है। इन पक्तियों में पावन प्रणय की एक झाँकी दृष्टव्य है :

“रख दिये तुमने नज़र मे बादलों की साथ कर,
आज माथे पर, सरल सगोत से निर्मित अधर,
भारती के दीपको की झिलमिलाती छाँह मे
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर ।”^२

शुम्बन के सन्दर्भ में भागवत पर रखी बाँसुरी सहज ही प्रणय की वैष्णवी मुद्रा को प्रस्तुत कर देती है। भारती में कहीं भी निषेध नहीं है। वे निषेध और वर्जना के कवि नहीं हैं। परन्तु जहाँ वे स्वीकार भाव से जीवन को ग्रहण करते हैं वहाँ पर उनकी यह विशिष्टता रेखांकित करने योग्य है कि मध्ययुगीन काम के प्रति हीन-भाव उनमें एक ऊर्जस्वित आराधना-भाव में बदला हुआ नज़र आता है। एक स्थल पर वे लिखते हैं

“जिस दिन ये तुमने फूल बिखेरे माथे पर
अपने तुलसी-दल जैसे पावन होठों से,
मैं महज तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश धुपा,
चिटिया के सहमे बच्चे-सा
हो गया मूक
तेजिन उम दिन मेरी अलबेबी बाणी मे
ये बोल उठे,

गीता के मंत्रुल श्लोक, अचाएँ येदों की ।”^३

१ शुम्बन—दूसरा सप्तर, पृष्ठ १६३।

२ वही, पृ० १६८।

३ तुम्हारे पाँव मेरी गोद में—दूसरा सप्तर, पृष्ठ १८६।

भारती के प्रतीक भागवत पर खड़ी बशी, गीता के मजबूत श्लोक, वेदों की श्रृंखलाएँ, नभ का शुक्र तारा प्रणव की जिस आराधना के प्रभा-मण्डल में आवृत्त करके प्रस्तुत करते हैं, उनमें भारती की दृष्टि को एवागी समझने का धर्म नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर गुनहा का गीत गाते वे हुए सकीव या हिवरु का अनुभव नहीं करते। वे सहज ही कहते हैं :

"अगर मैंने किसी के होठ के पाटल यही घूमे

अगर मैंने रूसों के नैन क बादल कभी घूमे

महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो ।”

पूरी कविता आवेशमय है। अन्त में कवि बेबाक स्वर में पूछता है "न हो यह वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो?" शृङ्गार के आवेशमय गीत भारती की प्रारम्भिक रचनाओं में बहुलता से प्राप्त है। वही उनमें एक विशिष्ट उदासी छापी हुई है तो कहीं एक तरल आत्मीयतापूर्ण मनोमुग्धकारी भाव छलछलाता है। निम्नलिखित पक्तियाँ एक उदास मासूमियत से भरी हुई हैं।

“तुम कितनी सुन्दर लगती हो,

जब तुम हो जाती हो उदास ।

ज्यो किसी गुलामी दुनिया से

हाने लैंडहर् के आस-पास ।

मद भरी चांदनी जगती हो ।”३

अथवा

“प्रातः सद्यः स्नातः

धन्धों पर निखरे केश

आसुओं में उर्वो

धूला बैराग्य का सन्देश

ચમતી રહ-રહ

बदन की अर्चना की धूप

यह सरल निष्काम

पूजा-सा तुम्हारा रूप ।”³

१ गुणाह का गीत—दूसरा सप्तक, पृ० १७६ ।

੨ ਚਦਾਸ ਰੁਮ " ਪ੍ਰੰ ੧੬੦ ।

३ प्रार्थना की कडी—ठण्डा लोहा, पृ० ५ ।

प्रेम के सवाल पर भारती का कहना है कि आज तक जिसे उसने तहे-दिल से प्यार किया उसके चरणों में अपने व्यक्तित्व को इतनी सरलता से और इतनी गहन पूजा-भावना से संपूर्णतया समर्पित कर दिया कि कहीं से कोई कसाव या डुराव नहीं रह गया।^१ भारती की प्रणयानुभूति में आत्मा और शरीर का भरपूर संयोग है। यह जितनी ही पूर्णता से मन की पूजा है, उतनी ही संपूर्णता से शरीर का स्वीकार।

भारती की तरफ़ाई उनकी कविता में छलछलाती है परन्तु उनमें नितान्त वैयक्तिक सस्पर्श रहते हुए भी समाज की उपेक्षा का भाव नहीं है। वे कहते हैं, "मैं अपने की स्वतः संपूर्ण, निस्संग, निरपेक्ष सत्य नहीं मानता। मेरी परिस्थितियाँ मेरे जीवन में आने और आकर चले जानेवाले लोग, मेरा समाज, मेरा वर्ग, मेरे संधर्भ, मेरी समकालीन राजनीति और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, इन सभी का मेरे और मेरी कविता के रूप, गठन और विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भाग रहा।"^२

भारती ने समवाय के प्रति अपने समर्पण-भाव को भी अपने जीवन के संधर्भों और अपने वैयक्तिक दुःख-दर्दों में से ही विकसित किया है। वे अपने जीवन को, अपनी वाणी को अर्पित जीवन और अर्पित वाणी बनाने का उद्घोष करते हैं। हैं। लेकिन वह अर्पण का भाव अपने प्रणयाकुल, आत्म-समर्पणमयी अनुभूतियों से ही विकसित हुआ है। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—“मैं अपना पथ बना रहा हूँ। जिन्दगी से अलग रह कर नहीं, जिन्दगी के संधर्भों को श्लेषता हुआ, उसके दुःख-दर्द में एक गभीर अर्थ ढूँढ़ता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जन-व्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करता हुआ।”^३ इसीलिए किसी के ‘फीरोज़ी होठी पर बरबाद’ होते हुए भी वे जीवन में आस्था की तलाश करते हैं। वे अपनी प्रणयाकुल गलियों से गुजरते हुए आगे विभक्त क्षेत्र में उतरते हैं।

“ये कविताएँ

यह कथा, कहानी, उपन्यास

इनके अन्दर तुम नाहक मुँहफो ढूँढ़ रहे।

१. दूसरा सप्तक, पृ० १७६।

२. भूमिका—ठण्डा लोहा, पृ० २।

३. वही, पृ० ३।

ये गलियाँ थीं

इनसे होकर मैं गुज़र चुका

यहूँकेचुल है, जो धीरे-धीरे छूट रही ।”^१

इस पथ से गुज़रते हुए वह अपने कवि से कहते हैं —

“सृजन की यन्त्र

भूल जा देबता

अभी तो पड़ो है

घरा अधवनी”^२

उन्हे तो इस अधवनी घरा को पूरी तौर पर बनाना है ।

भारती की वैयक्तिकता को पहचानने के लिए यदि हम उन्हीं के कथन को साक्ष्य मानें तो ये पक्तियाँ मननीय हैं । “अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार, क्षण और निरवधि-काल के बीच अन्धेरी राह पर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्य को पराजित कर हम रचते हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्यकता पाने के लिए, जो पाकर खोया जा सकता है उसे रचने के ऐसे विन्दु पर उपलब्ध करने के लिए जहाँ से वह फिर खोया न जाय ।”^३ चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार के बीच की अन्धेरी राह पर रचना की भूमि की तलाश में भारती क्रमशः सार्वजनीन होते गये हैं । बाद की उनकी रचनाएँ समष्टि-चेतना से अधिवाधिक जुड़ती गई हैं । चाहे वह “अन्धायुग” के माध्यम से आस्था की खोज हो अथवा “सात गीत वर्ष” और “कनुप्रिया” के बहुत से गीत । परन्तु समष्टि-चेतना से जुड़ने की बात जब हम करते हैं तो हमारी दृष्टि में भारती की चेतावनी बराबर स्मरण रहती है जो उनके इस लम्बे उद्धरण में व्यक्त की गई है :

“ऐसे क्षण होते ही हैं जब लगता है कि दुर्दान्त शक्तियाँ अपनी निर्मम गति में बढ़ रही हैं, जिनमें कभी हम अपने को विवश पाते हैं, कभी विक्षुब्ध कभी विद्रोही और प्रतिशोधयुक्त, कभी बल्गाएँ हाथ में लेकर गतिनायक या व्याख्याकार, तो कभी चुपचाप शाप या सलीब स्वीकार करते हुए आत्म-बलिदानी उद्धारक या वाता—लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्देश्य है—महत्त्व उसका नहीं है—महत्त्व उसका है

१. निवेदन—ठण्डा लोहा, पृ० ८-९ ।

२. यके हुए कलाकार से—दूसरा सप्तक, पृष्ठ १८१ ।

३. भूमिका—सात गीत वर्ष, पृष्ठ १३ ।

जो हमारे अंदर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है जो क्षण हम सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह कि समस्त बाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमट कर उस क्षण में पूंजीभूत हो गया है, और हम हम नहीं रहे।”^१

ऊपर की पक्तियों में जिस सत्य का साक्षात्कार होना है उसके माध्यम में हम भारती की ही वैयक्तिकता को नहीं पहचानते प्रत्युन वैयक्तिक रचना दृष्टि की ही पहचान करते हैं, बाहर के सारे उद्देश्य अपनी जगह पर हैं, परन्तु जो अन्दर साक्षात्कृत होता है महत्त्व उसी तन्मयता के चरम क्षण का है। भारती का कहना है कि प्रयास तो ऐसा अनेकों बार हुआ है कि कोई ऐसा मूल्य-स्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियाँ अपनी सार्यकता पा सकें। परन्तु इस प्रयास को दुस्तर समझ कर प्रायः छोड़ दिया जाता है और प्रायः इन दोनों के बीच थलगाव की रेखा खींचकर भीतर के बिन्दु से बाहर को बाहर के किसी बिन्दु से भीतर को मिथ्या भ्रम घोषित किया जाता है। अथवा तन्मयता के साथ पहली स्थिति को जी लेने के पश्चात् उसे छोड़कर बाद में दूसरी स्थिति पर पहुँच जाया जाता है। भारती का कहना है कि उन्होंने “सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में दूबकर सार्यकता पायी है।”^२

इस आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया में ही भारती ने विराट् स भी साक्षात्कार किया है। नारी और पुरुष के बीच के चिरन्तन आकर्षण ने कवि मन को हर युग में हर काल में झकझारा है। जीवन का यह सत्य जितना शाश्वत है उतना ही नवीन, जितना वैयक्तिक है उतना ही सार्वत्रमीन, जितना परिचित और पहचाना है, उतना ही रहस्यमय और उत्तेजक। हर कवि और कलाकार इस सत्य से झूझता है। प्रसाद की कामायनी, दिनकर की उर्वशी और न जाने कितनी रचनाएँ इस काम-सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करती रही हैं।

भारती निरन्तर व्यक्तिगत अनुभूतियों से ओत प्रोत रचनाएँ प्रस्तुत करते हुए उस भूमि पर पहुँचते हैं जहाँ से वे उस आकर्षण की विराट् लीना-

१. भूमिका—कनुप्रिया, पृ० ६।

२. वही, पृ० ६।

३. वही, पृ० ६।

ये गतियाँ थीं

इनसे होकर मैं गुजर चुका

यह कुँकुल है, जो धीरे-धीरे छूट रही ।^१

इस पथ से गुजरते हुए वह अपने कवि से कहते हैं —

“सृजन की थकन

मूल जा देवता

अभी तो पड़ी है

घरा अधवनी”^२

उन्हे तो इस अधवनी घरा को पूरी तौर पर बनाना है ।

भारती की वैयक्तिकता को पहचानने के लिए यदि हम उन्हीं के कथन को साक्ष्य मानें तो ये पत्तियाँ मननीय हैं । “अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार, क्षण और निरवधि-वास के बीच अन्धेरी राह पर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्य को पराजित कर हम रचते हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए, जो पाकर खोया जा सकता है उसे रचने के ऐसे विन्दु पर उपलब्ध करने के लिए जहाँ से वह फिर खोया न जाय ।”^३ चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार के बीच की अन्धेरी राह पर रचना की भूमि की तलाश में भारती क्रमशः सार्वजनीन होते गये हैं । बाद की उनकी रचनाएँ समष्टि-चेतना से अधिवाधिक् जुड़ती गई हैं । चाहे वह “अन्धायुग” के माध्यम से आस्था की खोज हो अथवा “सात गीत वर्ष” और “कनुप्रिया” के बहुत से गीत । परन्तु समष्टि-चेतना से जुड़ने की बात जब हम करते हैं तो हमारी दृष्टि में भारती की चेतावनी बराबर स्मरण रहती है जो उनके इस सम्ये उद्धारण में व्यक्त की गई है ।

“ऐसे क्षण होते ही हैं जब लगता है कि दुर्दान्त शक्तियाँ अपनी निर्मम गति में बढ़ रही हैं, जिनमें कभी हम अपने को विवश पाते हैं, कभी विस्मय कभी विद्रोही और प्रतिशोधयुक्त, कभी बल्ल्याएँ हाथ में लेकर गतिनायक या व्याख्याकार, तो कभी चुपचाप शाप या सलीब स्वीकार करते हुए आत्म-बलिदानी उद्धारक या दाता—लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्त्व उसका नहीं है—महत्त्व उसका है

१ निवेदन—ठण्डा लोहा, पृ० ८-९ ।

२ थके हुए कलाकार से—दूसरा सप्तक, पृष्ठ १८१ ।

३ भूमिका—सात गीत वर्ष, पृष्ठ १३ ।

नयी श्रुति में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य : 'भारती' : १८५

उसमें एक निर्वेद का सत्त्व भी निहित रहता है जिसकी ओर दोनों ने सकेत किया है। नारी और पुरुष का ऐक्य कितना विराट् है और फिर भी कितना सीमित इसको इन पक्तियों में यहसूस किया जा सकता है :

“उठो मेरे प्राण

और काँपते हाथों से यह वातायन बन्द कर दो

यह बाहर फैला-फैला समुद्र मेरा है

पर आज मैं उधर नहीं बेलना चाहती

यह प्रगाढ़ अन्धेरे के कण्ठ में झूमती

ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों की

ज्योतिर्माला में ही हूँ

और अक्षय्य ब्रह्माण्डों का

दिशाओं का, समय का

अनन्त प्रवाह भी मैं ही हूँ

पर आज मैं अपने को झुन जाना चाहती हूँ।”^१

वचन की कविता “कवि की वासना” इस विराट् अनुभूति का दूसरा पहलु प्रस्तुत करती है—

“कह रहा जग वासनामय

हो रहा ज्वार मेरा ।

सृष्टि के प्रारम्भ में

मैंने उपा के गाल चूमे

बाल रवि के भाग्य वाले

दीप्त भाल विशाल चूमे

प्रथम संध्या के अरुण दृग

झूमकर मैंने सुलाये

तारकावलि से सुसज्जित

नय निशा के बाल चूमे

वायु के रसमय अघर

पहले सके छू होठ मेरे

मृत्तिका की पुतलियों से

आज गया अभिसार मेरा।”

भूमि को अपनी अनुभूति में स्वायत्त कर सकें। वनुप्रिया ने भीत इससे प्रमाण हैं। वनुप्रिया कहती है :

“यह जो मैं कभी-कभी चरम साक्षात्कार के क्षणों में
विलकुल जड़ और निस्त्वन्द हो जाती हूँ
इसका मर्म तुम समझते क्यों नहीं साँवरे।
तुम्हारी जन्म जन्मान्तर की रहस्यमयी सीला
की एकांत सगिनी मैं
इन क्षणों में अरस्मात्
तुमसे पृथक् नहीं हो जाती मेरे प्राण,
तुम यह क्यों नहीं समझ पाते कि साज
सिर्फ जिसमें को नहीं होती
मन की भी होती है
एक मधुर भय,
एक धमजाना सशय,
एक आग्रह भरा गोवन,
एक निर्व्याप्या घेदनामयी उदासी,
जो मुझे बार-बार चरम सुख के क्षणों में भी
अभिभूत कर लेती है।”

नारी की ओर से निवेदित इन पक्तियों की तुलना दिनकर की ‘उर्वशी’ में पुरुष (पुरुषा) की ओर से वही गई इन उक्तियों से की जाये

“देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
सारी सीमा-भूमि नहीं सीमित है रुधिर स्वचा तक।
यह सीमा प्रवरित है मन के गहन, गुह्य लोको से,
जहाँ रूप की लिवि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुल मंडल से,
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।”

दिनकर पुरुष होकर जितनी प्रामाणिकता के साथ पुरुष-मनोभूमि को प्रस्तुत कर सकते हैं, भारतीय नारी-मन को उस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं या नहीं इसमें न उलझते हुए एक सच्चाई को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि अपने विसर्जन के अन्तिम क्षण में जो सिद्धि की अनुभूति होती है,

“पता नहीं
 प्रभु है या नहीं
 किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ
 जब कोई भी मनुष्य
 अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
 उस दिन मक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
 नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
 उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता
 मिटाता है ।”

आस्था का यह स्वर निश्चय ही एक ऊर्जस्वित स्वर है, जिसका भाग्यवादी भारतीय परिवेश में गहरा अर्थ है। यही आस्था दूसरे शब्दों में सार्थकता बनकर वनु की खोज की मजिल बनती है। कनुप्रिया की यह प्रसन्नकुल जिज्ञासा :

“मेरे महान् वनु
 मान लो कि क्षण भर को
 मैं यह स्वीकार कर लूँ
 कि मेरे वे सारे तन्मयता के गहरे क्षण
 सिर्फ भावावेश थे,
 सुकोमल कल्पनाएँ थीं
 रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे ।
 मान लो कि
 क्षण भर को
 मैं यह स्वीकार कर लूँ
 कि पाप-पुण्य, धर्मधर्म, न्याय-अन्याय
 समा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध मत्त है
 + + +
 हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ
 नभ को कँसते हुए, युद्ध-घोष, ज्वलन स्वर
 भगे हुए सेनिकों से सुनो हुई
 अकल्पनीय, अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
 क्या ये सब सार्थक हैं ?

+ + +

भारती और बच्चन की अनुभूति की प्रक्रिया में स्पष्ट अन्तर रेखांकित किया जा सकता है। भारती अपने तन्मयता के क्षण में निरान्त वैयक्तिक और सच्चे प्रतीक होने हैं जबकि बच्चन का कवि अनुभूति को व्यापक और विराट् प्रदर्शित करने के मोह में अप्रामाणिकता और उद्धोषणा की मुद्रा धारण कर लेता है।

भारती के कविता सङ्कलन "सात गीत वर्ष" के कई गीत अत्यन्त वैयक्तिक सस्पर्श में सहनाते हैं। उनमें 'ठण्डा लोहा' के गीतों की तुलना में चाहे वेग की कमी भी हो, परन्तु उनकी मृदुलता, उनकी महक तथा पूजा-भावना और अधिक स्पष्ट है जैसे —

"सपनों में झूठे से स्वर में
जब तुम कुछ भी कहती हो
मन जैसे ताजे फूलों के भरनों में घुल जाता है
जैसे गन्धों की नगरी में गीतों से
अम्बुन का आबू घरवाजा खुल जाता है
बातों पर बात, ज्यों जूही के फूलों पर
जूही के फूलों की परतें जम जाते हैं
मंश्री में बँध जाती है दोनों उल्लेख
दिन की ढलती रेशम-पहर धम जाती हैं।

घोघूली में घरवाहो की बारी जैसे
शम्भू वहीं दूर, कही दूर अस्त होते हैं।"^१

भारती की वैयक्तिकता का एक दूसरा आयाम उनकी कृति "अन्धायुग" में ध्वनित होता है। यहाँ हम डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी की इस टिप्पणी से सहमत हैं "अन्धायुग बनाम आस्था—पूरी रचना का सघर्ष यही है। अंधेरे की शक्तियों से जूझने का उपक्रम अपने अपने ढंग से निराला म है, मुक्तिबोध म है, भारती में है। आधुनिक कविता का यह "अपराजेय स्वर है।"^२ सहमति के साथ मैं इतना जोड़ना चाहूँगा कि जहाँ निराला और मुक्तिबोध को अपने जीवन में भी अन्धकार की शक्तियों से नितान्त निजी स्तर पर जूझना पड़ा था भारती भूलतः अपने युग और समाज में व्याप्त अन्धेरे से जूझते हैं। अन्धायुग में कृष्ण के माध्यम से आस्था की खोज है। निम्न पक्तियाँ उस खोज का उद्धोष हैं जो याचक के मुख से कवि ने कहलाया है

१ वार्ते—सात गीत वर्ष—डॉ॰ धर्मवीर भारती, पृ० १०१-१०२।

२ नई कविताएँ एक साक्ष्य—डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १०४।

"पता नहीं

प्रभु है या नहीं

किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ

जब कोई भी मनुष्य

अनासक्त होकर चुनोती देता है इतिहास को

उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है

निपति नहीं है पूर्व निर्धारित

उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता

मिटता है ।"

आस्था का यह स्वर निश्चय ही एक ऊर्जस्वित स्वर है, जिसका भाग्यवादी भारतीय परिवेश में गहरा अर्थ है। यही आस्था दूसरे शब्दों में सार्वकता बनकर कनु की खोज की मजिल बनती है। कनुप्रिया की यह प्रश्नाकुल जिज्ञासा :

"मेरे महान् कनु

मान लो कि क्षण भर को

मैं यह स्वीकार कर लूँ

कि मेरे वे सारे तन्मयता के गहरे क्षण

सिर्फ भावावेश थे,

सुकुमल कल्पनाएँ थीं

रेंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे ।

मान लो कि

क्षण भर को

मैं यह स्वीकार कर लूँ

कि पाप-पुण्य, धर्मधर्म, ग्याय-वृद्ध

समा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध मत्त है

+ + +

हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ

नभ को कँगाते हुए, युद्ध-घोष, क्रन्दन स्वर

भगे हुए सैनिकों से सुनो हुई

अश्लक्षणीय, अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की

बया ये सब सार्वक हैं ?

+ + +

अर्जुन की तरह सभी
 मुझे भी समझा दो
 सार्वभौमता है क्या वस्तु ?
 मान लो कि मेरी सम्मति के गहरे क्षण
 रंगे हुए अणुहीन आकर्षक शब्द थे—
 तो सार्वभौमता फिर क्या है कब ?”^१

कनुप्रिया का कृष्ण से पूछा गया यह प्रश्न प्रत्येक सर्जक के कानों में गूँजनेवाला प्रश्न है। जब भी वह सृजत-रत होता है उससे सामने उसकी चेतना की अन्तस्थ गहराइयों में यह सार्वभौमता का प्रश्न बाँधता रहता है। कनुप्रिया ही अन्त में कृष्ण को और भी गहरे उतारती है :

“पर इस सार्वभौमता को तुम मुझे
 कैसे समझाओगे कब ?
 शब्द, शब्द, शब्द ..
 मेरे लिए सब अणुहीन है
 यदि वे मेरे पास बैठकर
 मेरे लले कुम्हलों में उँगलियाँ उसकाये हुए
 तुम्हारे पाँपों के अंधों से नहीं निरस्त हैं।”^२

यही है भारती के सृजन की वैयक्तिक भूमि जहाँ उन्हें अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार, “क्षण और निरवधि काल” के बीच में खड़े होकर “रचने” की प्रेरणा मिलती है।

भाषा का लहरिल प्रवाह भारती की विशिष्ट पहचान है। उसमें हिन्दी के उर्दू के, सभी शब्द घुन जाते हैं। उच्छल और तरल अनुभूतियाँ अपने प्रवाह में सारे अनघुल तत्वों को भी बहाये चली जाती हैं। भारती के प्रतीकों पर आर्य परंपरा की छाप है। कृष्ण, अर्जुन, कनुप्रिया, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, भागवत, वशी तो हैं ही, सब में अन्तर्व्याप्त हैं उनके प्रभु और उनकी वैष्णवी मुद्रा। इस वैष्णवी मुद्रा तब पहुँचने की प्रक्रिया में भारती की वह दृष्टि रही है जो निम्न पक्तियों में प्रतिध्वनित होनी है :

“जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
 उसमें है सब के लिए जगह, सब का महत्व,

१. कनुप्रिया, पृ० ७२, ७३, ७४।

२. वही पृ० ७५-७६।

ओ मेजों की कोरी पर माया रख रखकर रोनेवाले
 यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ यह सब का है ।
 सब ने पाया है प्यार सभी ने लोया है
 सब का जीवन है भार, और सब जीते हैं
 धैर्य न हो—
 यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है,
 फिर वही ज्योति मिल जाती है,
 जिसके मंजुल प्रकाश में सब के भय नये खुलने लगते,
 ये सभी तार बन जाते हैं ।”^१

भारती की वैयक्तिकता का अध्ययन इस टिप्पणी के साथ समाप्त करना चाहूँगा कि कवि की वैष्णव भावना, उसकी आस्था, उसका पावन प्रणय जितनी उसकी रचना का सत्य है, साक्षात्कार का सत्य है, उतना ही जीवन का भी सत्य है ऐसा मानने का मेरा आप्रह्न नहीं है ।

नरेश मेहता

नयी कविता के प्रमुख कवियों में अपने महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य के बावजूद एक हृदय तक उपेक्षा का शिकार कवि-व्यक्तित्व श्री नरेश मेहता का रहा है । इसके कारण रहे हैं । सबसे पहला कारण तो कवि का स्वभाव प्रणीत होता है, जो सांसारिकता से अपने को यथासंभव अलग करके अपनी एकान्त काव्य-साधना में रत रहने का सकल्प लेकर चला रहा है । दूसरे नरेश मेहता धर्म-धर्म अपनी सर्जना को उस विराट् परिवेश में जोड़ते चले गए, जिसकी अनुभूति सामान्य पाठक को प्रायः किन्हीं विरल क्षणों में ही होती है । कवि मन भी प्रायः उन तात्कालिक पार्थिव अनुभूतियों से ही जुड़ा रहना पसन्द करता है जो हमारी प्राथमिक स्तर की प्रवृत्तियों से संबध रखती हैं, चाहे वह भोजन, वस्त्र के क्षेत्र की हो अथवा काम और प्रेम के क्षेत्र की । ये अनुभूतियाँ तत्काल हमें छेड़ती हैं, प्रभावित करती हैं । इसीलिए उनकी एकदम हमारे मन पर तत्काल होती है । छायावादी कवि जब प्रकृति की चर्चा करता है तो उसके बहाने अपने मन की गाँठों को ही खोलता है । जब प्रसाद जी विभावरी के बीत जाने पर किसी को जगाते हैं तो उनके सामने 'धन कुल' का कल निनाद

तो होता ही है, परन्तु ध्यान के केन्द्र में तो आँखों में विहाग भरे हुए अलकों में मलयज बन्द बरखे सोई हुई प्रियतमा ही होती है। यही वैयक्तिक और भी वैयक्तिक और सरल स्तर पर छायावादोत्तर कवियों की है। बच्चन जब किसी से कहते हैं कि अभी रात बहुत शेष है, अभी जाने की बेला नहीं है तो भले ही प्रामाणिक रूप से “चाँद-चाँदनी”, “नम-रजनी”, “अलि-बमल” के मिलन की क्षीबी प्रस्तुत करने हों, परन्तु केन्द्रीय ‘सवेदन’ तारों के अपने तन अपने मन को दृढ़ करने का ही है। प्रयोगवादियों में अज्ञेय की कुछ रचनाएँ अपवाद बही जा सकती हैं, जहाँ प्रकृति का एवान्त चित्रण दियाई देता है, बरन् गिरिजा कुमार माथुर भी प्रकृति के बहाने अपने मन की स्मानियत और शृङ्गारिता की ही अभिव्यक्ति करते हैं। नई कविता को प्रकृति के लिए कम अवकाश है। इस लम्बी परंपरा में नरेश मेहता की ‘उपम्’ शृद्धता की रचनाएँ एक अलग व्यक्तित्व रखती हैं। वे कहते हैं श्रुति की इस तिर्य कुमारी-बन्या का मैं प्रतिदिन अपने शक्तिज पर आह्वान करता हूँ। इनके माध्यम से वे सृष्टि की शोध करते हैं। निम्न पंक्तियों में ऊषा का कितना प्राजल चित्रण है

“किरणमयी । तुम स्वर्णं वेश में ।

स्वर्णं वेश में ।

सिंचित है केशर ॥ जल से

इन्द्र लोक की सीमा,

आने दो संन्यस घोड़ों का

रथ कुछ हस्के धीमा

पूजा के नम के मन्दिर में

वरुण देव को नींद आ रही

आज अलकनन्दा के तट पर

बशी का समोत गा रही ।

अभी निशा का छन्द शेष है, अलसाये नम के प्रवेश में ।”^१

पूरा सन्दर्भ, सारे प्रतीक देश की प्राचीन सृष्टि से जुड़े हैं। कवि अपनी निजी जीवन की बटु-मधु वैयक्तिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर अपनी चेतना को उन प्रतीकों और परंपराओं में प्रसरित करता है, जहाँ उसे बही औपनिषदिक और वैदिक चेतना का सम्पर्क मिलता है, कही प्रकृति के उन शाश्वत रूपों का

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य - 'नरेश मेहता' . १६१

दर्शन होता है, जिन्होंने सदा-सदा से हमारे देश की ऊर्वर्णमुखी चेतना को प्रेरित किया है।

नरेश मेहता की सबसे बड़ी विशिष्टता यही रही है कि धीरे-धीरे दिक्-काल की सीमा का अतिक्रमण करते हुए वे विराट् से साक्षात्कार करने की साधना करते रहे हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक ही है कि पार्थिव जगत के सघर्षों के प्रति उनकी दृष्टि में एक उपेक्षा या उदासीनता का भाव आता जाये। ऐसा नहीं कि उन्हें पार्थिव आवश्यकताएँ पौडित न करती हो, उनकी अपूर्ति मन को व्यथित न करती हो, परन्तु उनके प्रति उनका भाव धीरे-धीरे अनासक्ति का होता चला गया है। अपने सहज अध्यवसाय से जो कुछ संभव है, वह होता जाये परन्तु उन्हें लेकर ही वे उलझते नहीं हैं। उनकी सृजनशीलता उलझती है तो मृष्टि की विराट्ता के साथ। उन्हें कण-कण में एक उदात्त चेतना का सम्पर्क दिखलाई देता है। नरेश मेहता भक्त कवि नहीं है, न आध्यात्मिक सिद्धि के दावेदार, परन्तु उन्हें क्रमशः यह एहसास होता चला गया है कि यह मृष्टि किसी विराट् स्रष्टा की सीला भूमि है। यहाँ स्थल-स्थल पर कोई उपनिषद् रचा जा रहा है। उनकी सद्यः प्रकाशित दाय्य-कृति "उत्सवा" इसी मनोभूमि पर रची गई है, परन्तु उसकी चर्चा के पूर्व यदि हम उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर भी दृष्टिपात करें तो वैसा वैयक्तिकता से ससक्त स्वर उनका कभी भी नहीं रहा है। उनकी एक प्रारम्भिक रचना में वैयक्तिक सन्दर्भ की इन पक्तियों को देखा जाय -

"तुम यहाँ बैठो हुई थीं अमी उस दिन।

सेव-सी घन लाल

चिक्ने घोंट-सी वह बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर गृही।

इस पेड़ जड़ पर बैठ,

मेरी राह में, इस धूप में।

यह गया वह नीर,

जिसको पदों से तुमने छुआ था।

धन जलने धूप उस दिन की वहाँ है,

जो तुम्हारे कुन्तलों में गरम, फूलों, धुली, धौली लप रही थी।

चाहता भर

तुम यहाँ बैठो रहो,

उड़ता रहे चिड़ियों सरोचा वह तुम्हारा घवन अंचल,

किन्तु अब तो घ्रीष्म,
तुम भी दूर, ओ ये सू ।”^१

इन पंक्तियों में जहाँ कवि की स्मृति उसे किसी के चिड़ियों सरीखे श्वेत आचल का सुखद सस्पर्श देती है, वही एक अनासक्त वर्तमान उसे उस स्मृति की सीमा से अलग करता हुआ भी स्पष्ट महसूस होता है “किन्तु अब तो घ्रीष्म, तुम भी दूर, ओ ये सू ।” इसमें वह रोना-धोना और पछाड़ धा-धाकर गिरने का स्वर कहाँ है, जिसे हम ‘आँसू’ में सुन चुके हैं? कवि की चेतना में तो धीरे-धीरे ‘विषयगा का भाव’ गहरा होता जाता है। वह कहता है :

“है धिरी प्राचीर में यदि देह,
हो गया यदि सत्य जीवन का विभाजित,
भाव तो
उन्मुक्त—
लता मण्डप सा उसे ही कैलने दो
विभाजित इस धरित्री के
रूप सत्यों पर झुका
आकाश भी तो है ।”^२

साधना की इसी दिशा को नरेश मेहता ने पूरी आस्था से पकड़ा है। देह चाहे प्राचीरो में धिरी रहे लेकिन उन्मुक्त भाव तो लता-मण्डप से कैलते ही जायेंगे।

पार्थिव परिस्थितियों के प्रति कवि का दृष्टिकोण इन पंक्तियों में ध्वनित है :

“पृथ्वी यह
परिस्थिति यह,
स्यान और पुरजन ये
बलबल हैं।
ऐरावत बने हम
फँसते हैं,
मदान्ध हो समझते हैं
कमलवन हमारा है,
हमारा है ।”^३

१. चाहता मन—बोलने दो चीठ को, पृष्ठ १०।

२. विषयगा का भाव—बोलने दो चीठ को, पृष्ठ १२।

३. कमलवन—बोलने दो चीठ को, पृष्ठ २३।

यों कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य 'नरेश मेहता' . १६३

तीस वर्षों की उम्र में लिखी गई कवि की यह रचना निश्चय ही उनके सन्यास-भाव को रेखांकित करती है। किन्तु उनकी बाद की रचनाएँ इस सन्यस्त मुद्रा से कुछ भिन्न धरातल पर खड़ी लगती हैं। यह तो सच है कि अपनी चेतना को पृथ्वी, परिस्थिति, स्थान और पुरजन तक ही सीमित रखना उन्होंने स्वीकार नहीं किया किन्तु उन्हें दल दल माननेवाला भाव उनकी कृति "उत्सवा" में नहीं प्रतीत होता। बहुत पहले से ही नरेश मेहता की दृष्टि अपनी रचना के सबंध में कुछ इस प्रकार की रही है

‘दर की अभिव्यक्ति
हो नहीं सकती।
घाव है
यह पीर है,
जो कदाचित् दिलाया तो जा सके
किन्तु उसका गान
बचना है।’

अपनी पीड़ा के गीत गाने की जो परम्परा छायावादी युग से बनती आ रही थी, यह नई कविता में कई अर्थों में टूटती है, परन्तु नरेश मेहता के काव्य में तो उससे बहुत दूर तक मुक्ति पायी जा सकी है। नरेश मेहता अपनी पतझर की उदास संध्या को भी उत्सवित करने की मानसिकता बनाने में लगे रहे हैं। यह सही है कि सतार में उन्हें वे परिस्थितियाँ आसानी से प्राप्त नहीं हैं, जो उम संध्या को भी उत्सव बना दें। चारों ओर उन्हें उदासी ही दिखाई पड़ रही है। वे कहते हैं -

“मैं इस उदास संध्या को
इन पीले पत्तों को लौटा दूँगा
धर्मेति मैं इसे उत्सव नहीं कर सका
मेरे पास एक उदास संध्या थी
लेकिन किसी के पास
उत्सव नहीं था।”

इन पत्तियों में एक विषादमय द्वन्द्व है। कवि पतझर की उदास संध्या को उत्सव बनाने के प्रयास में असफल होकर पुनः उसे पतझर के शरों पीले पत्तों को ही लौटा देता है। संकल्प और परिस्थिति का यह द्वन्द्व आगे के काव्य

१६४ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

विकास में काफी दूर तक रिजाल्व हो जाता है। कवि ज्यो-ज्यो विराट् के साक्षात्कार की अनुभूति अपने में स्वायत्त हुई पाते जाते हैं, परिस्थिति का बन्धन टूटता जाता है। उसे पूरी सृष्टि में एक संगीत सुनाई देता है, रोब एक उपनिषद् की रचना होती दिखती है।

अज्ञेय ने अपनी नियति को नदी के द्वीप के रूप में स्वीकार किया था, भारत भूषण ने अपने को शान्त सरोवर कहा था, नरेश मेहता का कहना है।

“जल कांक्षिणी

यह नदी की दुःख रेखा

अनी भी सागर प्रिया।

सब बह गया कल

जो भी बना था जल

नदी की देह में।

रेत की ही साक्षियाँ

अब तप रही हैं

सूर्य

एकान्त में।”

उनका कहना है कि नदी तो सिन्धु की वाग्दत्ता है और उसे उस तक पहुँचना ही है। इसीलिए उनका दृढ़ विश्वास है कि आज मूखी नदी भले तृप्त हो रही है, किन्तु कल शतमुखी होकर जो तप रहा है जल बनकर जन्म लेगा। अज्ञेय ‘नदी के द्वीप’ की नियति स्वीकार करने के उपरान्त भी अन्ततः ‘सागर-मुद्रा’ तक पहुँचते हैं, भारत भूषण सरोवर के उमड़ने पर नदी में विलीन होने की कल्पना से भाव-विभोर होते हैं, परन्तु नरेश मेहता की मूखी नदी तो महा-समुद्र में विलीन होने को कृतसंकल्प है। अनन्त की ओर उन्मुख, विराट्, ब्रह्माण्ड-चेतना के साक्षात्कार की साधना में सीन नरेश मेहता का कवि जिस मनोभूमि पर आज रचनारत है, उसका दर्शन हम ‘उत्सवा’ की अनेक रचनाओं में कर सकते हैं। कवि को अब कहीं किसी प्रकार की शिकायत या आक्रोश नहीं है। मनुष्य में और इस सृष्टि में उसे सर्वत्र एक मंगलमयता का दर्शन होता है। ‘उत्सवा’ की पहली ही कविता में वह कहता है।

“विश्वास करो

तुम्हारे लिए कोई अहोरात्र प्रार्थना कर रहा है।

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामञ्जस्य 'नरेश मेहता' : १६५

स्मरण करो
कोई सा भी उपाधिहीन सादा सा दिन
जब तुम्हें अनायास
अपने स्वत्व में
किसी कृष्णगन्ध की प्रतीति हुई हो,
क्षयवा
"किसी ऐसे राग की असमाप्तता
जो तुम्हारी देह-बासी को
गो-वत्स की भाँति विह्वल कर गयी हो
विश्वास करो
स्मरण के उस गोचारण में
कहीं तुम्हारे लिए
कोई प्रार्थना घेनुएँ कुह रहा होता है।"^१

इस कविता में प्रयुक्त नितान्त भारतीय प्रतीकों की अभी मैं चर्चा नहीं करता जो कवि की गहरी आर्पे प्रज्ञा के परिणाम हैं, न कवि की आधुनिक संरचना की ही चर्चा करता हूँ जिस तक पहुँचने के लिए उसने गहन अध्ययन, मनन, मधन और तन्मयता का सहारा लिया है। अभी तो मेरा कहना इतना ही है कि कवि का बोध उसकी अनुभूति को उस विराट् मूलमय चेतनानुभूति से जोड़ता चला जा रहा है, जहाँ उसे किसी भी सादे से उपाधिहीन दिन में भी कृष्णगन्ध की अनुभूति हो उठती है और उसे सयता है कि उसके लिए कोई अहीरात्र प्रार्थना कर रहा है। इस भूमि पर पहुँचने के उपरान्त उसे अपने अकेलेपन पर धीमन्-धी होती है और वह कह उठता है:

"मेरा यह कैसा अनेतापन
जो इस बेगिबक उरसवता से बलित है।"^२

यह अनेतापन का बोध उसका स्थायी भाव नहीं है। उसे तो लगता रहता है कि वह अपने दिन उस मूल की भाँति जीकर बिताता है जो यह महसूस करता है।

"अपने में से फूँक जो कम देना
बितना उदास होता है।"^३

१. प्रार्थना घेनुएँ—उत्सवा, पृ० २२।

२. घूप कृष्णा—उत्सवा, पृ० २३।

३. मया बोध—उत्सवा, पृ० २६।

कवि अब ऐसे मानसिक घरातल पर जी रहा है जहाँ उसे अपमान 'जरा-सा भी व्यथित नहीं करते । वह कहता है :

“जब तुम मुझे अपमानित करते हो
तब तुम मेरे निकष होते हो ।
प्रभु से प्रार्थना है
वह तुम्हें निकष ही रहे ।”^१

यौ तो 'उत्सवा' की प्रत्येक कविता एक गहरे साक्षात्कार की साक्षी है, परन्तु कवि की वैयक्तिक दृष्टि को समझने के लिए 'एक प्रश्न' अत्यंत महत्वपूर्ण रचना है । इस रचना के माध्यम से कवि उन सारे कवि-कलाकारों से एक प्रश्न पूछता है जो उसी के शब्दों में :

“बया तुम्हें यह अच्छा लगता है कि
तुम्हारी बेनी में पहुँच कर
फूल—

अपनी एकान्त सुगन्ध छोड़कर
एक सार्वजनिक घटना बन जाए ?
लेकिन क्यों ?

किसी अमूल्य ऐकान्तिकता का
इससे अधिक
और क्या अपमान हो सकता है कि
वह विज्ञापन हो जाये ?

प्रसाधित गोष्ठियों
सार्वजनिक उत्सवों के बिना तुम नहीं रह सकते ?
वैयक्तिकता

या अपनी अमूल्य ऐकान्तिकता को
धोराहों की धोज़ बनाकर बया मिला है ?”^२

अपनी एकान्त वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने के विषय में कवि की यह दृष्टि पहले भी रही है । उसे इसके लिए अवकाश भी नहीं है । उसके प्रज्ञा-चक्षु के समक्ष तो विराट् की वह लीला दृष्टिगोचर हो रही है जिसको शब्दों में रूपायित करने का प्रयास स्वयं एक विराट् साधना है । वह तो देख रहा है :

१. निवेदन—उत्सवा पृ० ३७ ।

२. एक प्रश्न—उत्सवा, पृ० ६० ।

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य 'नरेश मेहता' : १६७

“यह कैसा है लीला-भाव, कि—

अग्नि हो अग्नि में

अग्नि का होम कर रही है

यह कैसा लीला-भाव है ?

यह किसका लीला-भाव है ?

हमारी आयु के ये चरित्र

ये विभिन्न धर्ममालायें

ये विनम्र वनस्पतियाँ

ये कामातुर नदियाँ

हमारी जीवन की

भाषाओं की

पृथिवी की

और पदहीन पदार्थों की स्वाहा-यात्रायें ही तो हैं ।”^१

जिस कवि की चेतना इस लीला-भाव का साक्षात् कर रही हो, निश्चय ही उसे लगेगा कि रोज-रोज बही-न-बही एक उपनिषद् की रचना हो रही है जो “आरण्यक” तो है पर “आख्यान” नहीं, “शतपथ” तो है पर “ब्राह्मण” नहीं । कवि कहता है

“जय बभी

बिस्ती एवान्त उपत्यका से गुजरते हुए

जिमी उपेक्षित गिरे चीड़ फूल में

एक भाषा का अनुभव हो

तो निश्चय ही

यह पृथोपनिषद् का बभी मंत्र था

जो हवा की भूल से

नीचे गिर कर अपनी मन्त्रात्मकता लो धुका है ।

परन्तु पृथ्वी पर गिरा हुआ कोई मंत्र

बभी अपनी शक्ति

गुगुन्ध या प्रयोजन नहीं लोता

क्योंकि पृथिवी बभी अपवित्र नहीं होती ।”^२

१. लीला भाव—उत्तरा, पृ. ६७ ।

२. उत्तर उत्तरिण—उत्तरा, पृ. १०६ ।

१६८ . हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिचय

इस प्रकार नरेज मेहता अपनी आत्मसत्ता को उस परमात्म विराट् सत्ता की अनुभूति से शराबोर करने में लीन है जहाँ उन्हें सब कुछ गरिमामय, मंगलमय, विराट् और शाश्वत प्रतीत हो रहा है। कहा जा सकता है कि ऐसी मानसिकता सामान्य कवि की नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा कहने मात्र से ही हम उस विशिष्ट बोध या अनुभूति को नकार नहीं सकते जो इस सृष्टि की विराट्ता, सौंदर्यता और जीवन्तता के साक्षात्कार से प्राप्य होती है।

शमशेर बहादुर सिंह

शमशेर ने एक कविता में लिखा है “नशा मुझे नहीं होता। मुझे पीने वालों को / होता / है—मेरी कविता को / अगर वो उठा सके और एव घूंट पी सके / अगर।” यह अगर बहुत बड़ा अगर है। शमशेर की कवि के रूप में जितनी निर्विवाद स्वीकृति है, उतनी ही पाठक वर्ग तक उनकी पहुँच विरल है। यह एक बहुत बड़ा विरोधाभास है। डा० रघुवश के इस कथन को मान लेने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि “छायावादी, प्रगतिशील और प्रयोगशील सभी कवियों ने समान रूप से शमशेर को स्वीकृति दी है।”^१ परन्तु वही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शमशेर कवियों के कवि हैं, सामान्य नाव्य-पाठकों के कवि नहीं हैं। उनका पूरा काव्य व्यक्तित्व इतना विशिष्ट है कि उनकी अभिव्यक्ति को ठीक ठीक ग्रहण कर पाना सामान्य पाठक के लिए संभव नहीं हो पाता रहा है और शायद आगे भी यह स्थिति बनी रहे। फिर चाहे उस दुरुहता, उलझाव, वैशिष्ट्य, रहस्य, इन्द्रजाल तथा बिम्ब-लौकिकता को हम जिस कोण से व्याख्यायित करें, कठिनाई अपने स्थान पर बनी रहती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके काव्य सौन्दर्य, उसकी कोमलता, सस्पर्शशीलता या मार्मिकता पर कोई प्रश्न चिह्न लगाने की गुंजाइश है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि उनकी कविता को आत्मसात् करने के लिए जिस गहरी सन्मयता और संवेदनशीलता की अपेक्षा है, उसके अभाव में वे पाठकों के लिए अस्पष्ट बने रह सकते हैं।

शमशेर की वैयक्तिकता की स्थिति भी कुछ वैसी ही है जैसी मुक्तिबोध

आलोचक डा० रामविनायक शर्मा के लिए दोनों बठिनाई उपस्थित करते हैं। दोनों में उन्हें रदस्यवादी केंचुल दिखाई पड़ती है। मुक्तिबोध को तो वे एक सीमा के बाद माफ भी करते हैं परन्तु शमशेर पर उनकी दृष्टि उदार नहीं हो पाती। मुक्तिबोध के प्रसंग में तो वे मानते हैं "मुक्तिबोध की बड़ी इच्छा थी कि ऐसा जीवन-दर्शन मिले जिससे समाज ही नहीं, विश्व के सृजन प्रलय के रहस्य भी एक साथ उद्भासित हो उठें।"^१ परन्तु शमशेर के प्रसंग में वे कहते हैं "शमशेर का आत्ममर्षण उनके मार्क्सवादी विवेक और इस उत्तर छायावादी इलियट, एज़रा पाउण्डवाले काव्य-बोध का सघर्ष है।"^२ बहसुत डा० रामविलास शर्मा मार्क्सवाद के साथ मिलावट वर्दाक्षि करने को तैयार नहीं हैं। और ये कवि अपने आत्म-बोध, आत्म-साक्षात्कार, आत्मानुभूति को छोड़ने का तैयार नहीं दीखते। सकल का विन्दु यही है।

शमशेर की वैयक्तिकता के सबध में उनकी एक कविता "एक नीला दरिया बरस रहा" को देखना पर्याप्त महत्त्व रखता है। इस एक कविता में ही उनकी सौन्दर्य-दृष्टि, जीवन-दृष्टि, उनका कला-बोध, ऐन्द्रजालिकता, वैयक्तिकता सभी कुछ झलक आती है। कविता के प्रारम्भिक चरण में ही कवि को लगना है कि एक नीला दरिया बरस रहा है और हवाएँ बहुत चौड़ी हैं। और यह बरसता हुआ दरिया और ये चौड़ी हवाएँ कवि के सीने में गूँज रही हैं। वन यही है शमशेर की काव्यानुभूति की पहली सीढ़ी। सारी प्रकृति जो उन्हें सबदित करती है, उनके सीने में गूँजने लगती है। इस क्षणक्षणाद-भरी गूँज को वे अपने डग से अनुपुबित करते हैं, अपनी कविता में। फिर वही अनुगूँज चाहे साही के अनुसार सौन्दर्यवेष्टित बिम्बलोक^३ बन जाये या मुक्तिबोध की शब्दावली में इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार^४ का चित्र या डा० रघुवश की भाषा में ऐन्द्रजालिक मृष्टि।^५ शमशेर अपने सीने के भीतर गूँजती हुई दरिया और हवाओं को सहज ही आत्मसात् नहीं कर पाते। एक पूरी यातना-मयी सृजन प्रक्रिया से वे गुजरते हैं। उसी गुजरने की प्रक्रिया में ही इन्द्रजाल बनता जाता है, बिम्बलोक निर्मित होता जाता है और चित्र उभरते जाते हैं।

१ नयी कविता और अस्तित्ववाद—पृ० ११२।

२. वही, पृ० ८३।

३ शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट—विजयदेव नारायण साहो।

४ शमशेर मेरी दृष्टि में—मुक्तिबोध।

५ शमशेर एवं ऐन्द्रजालिक कवि—डा० रघुवश।

उसी प्रक्रिया में उनका अन्तः उस संपूर्ण वाह्य को ध्वनित कर उठना है जो उस क्षण में उनके भीतर गूँजता रहता है। उन्हें लगने लगता है :

“एक रोमान

जो कहीं नहीं है मगर जो मैं हूँ—हूँ

एक गूँज ऊबड़-खाबड़

सगातार

आँख जो कि अँखुआए हुए

उपज आघो हो बहुत ही करीब बहुत ही करीब ।”^१

कवि के सम्मुख उसी क्षण में बहुत ही करीब कोई अँखुआई हुई-सी हालत में आँख उपज आई है। इस अँखुआई हुई आँख का साक्षात्कार तभी होता है जब भीतर सीने में दरिया और हवाएँ गूँजने लगती हैं। उसी समय वह नीला दरिया बरसता हुआ भी दिखाई पड़ता है। और इस प्रकार कवि को लगता है कि एक रोमान जो वही नहीं है मगर जो वह स्वयं है।

इस गूँज को सुनते हुए कवि एक जुनून की मन स्थिति में पहुँचता है। जुनून जो पहले उसके लिए केवल एक शब्द था अब उसके खून में बहता हुआ प्रतीत होता है और नीला दरिया जो पहिले बरसता हुआ नज़र आया था, बाद में सीने में गूँजने लगा और अन्ततः अपने में कवि के पूरे अस्तित्व को डुबो लिया। फिर तो कवि को लगता है कि वह एक इन्तहाइमत् की स्थिति में है जहाँ उसे अनुभव होता है कि और कुछ नहीं केवल मैं हूँ। फिर तो ऐसी स्थिति आ पहुँचती है कि भाषा बाहर खोजने की चीज नहीं रह जाती पसली में ध्वंजन और उनके भी बीच में स्वर सुनाई देने लगते हैं। अपने ही स्वर को सुनते हुए कवि को लगने लगता है जैसे एक फनल विशाल आकाश में घुँघुवा रहा है। रसायन शास्त्र के छात्रों के समक्ष या दवा बनानेवालों के सामने तो परखनली में तरल पदार्थों का उफनता हुआ तप्त स्वरूप स्पष्ट होगा, परन्तु साहित्य के अनेक छात्र फनल के विशाल आकाश में घुँघुवाने का बिम्ब स्वायत्त नहीं कर सकेंगे। पर यह तो शमशेर की कविता में प्रायः घटित होता है। बहुत से बिम्ब, शक्तिशाली, चिह्न या तो अपनी अमूर्तता के कारण अस्पष्ट रह जाते हैं, अथवा वे इतनी किसी एक विशिष्ट क्षेत्र के होने हैं कि अधिकांश पाठकों के समक्ष वे मूर्त नहीं हो पाते।

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य 'शमशेर' २०१

धीरे के बड़े अनुभव-छण्डों से गुजरती हुई यह रचना छठवें छण्ड में शमशेर की नितान्त निजी वैयक्तिकता को अत्यन्त सघन शब्दावली में व्यक्त करती है।

“समय के

घोराहों के चकित बेन्द्रों से

उद्भूत होता है कोई - उसे—व्यक्ति—वहो .”

कि यही काव्य है।

आत्मतम।

इसीलिए उसमें अपने को खो दिया

जाना गवारा करता हूँ

वर्षोंकि वही मेरा एक महीन युग-भाव है।”^१

यह आत्मतम ही शमशेर के लिए काव्य है, इसीलिए उसमें खो दिया जाना वे गवारा करते हैं। वही उनको महीन सा ही सही युग भाव भी प्राप्त होता है। वही उन्हें वह शराब भी गवारा है जो इन्सानियत की तलछट का छोटा हुआ स्वाद है। उसे वे भाँगते हैं परन्तु हम शर्त के साथ कि उसका पैमाना उन भाषाओं का फोनिमिकम हो जो पश्चिम और पूर्व की मिलन सीमा को स्वनित करती है।

शमशेर मूलतः आत्मानुभूति को अपनी विशिष्ट रेखाओं में उभारने की कला को सिद्धहस्त बनने की साधना में लगे रहे हैं। उनकी यह साधना नितान्त वैयक्तिक पथ से चलती रही है। मुक्तिबोध का यह कथन स्वीकार किया जा सकता है “अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं के मनस्तत्त्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गन्ध की हो। दूसरे शब्दों में, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठने वाला मौलिक विशेष, आत्मचेतस् भी होना चाहिए।”^२ यह आत्मचेतस् होने की विशिष्टता उतनी ही मुक्तिबोध में भी है, जितनी शमशेर में। इसीलिए अपने ढंग की जिस सरचना का विकास मुक्तिबोध ने किया है, कुछ उससे भी अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण शिल्प शमशेर का है। मालामाल उद्धरण देते हुए विजयदेव नारायण साही ने शमशेर की कविता के

१ एक नीला दरिया बरस रहा—चुका भी हूँ नहीं मैं, पृष्ठ १३।

२ शमशेर मेरी दृष्टि में—मुक्तिबोध (शमशेर, पृष्ठ ११)।

प्रसंग में कृतित्व की सार्थकता का प्रश्न उठाते हुए कहा है, "मालार्मीय विडम्बना एक सकोच के रूप में काव्यानुभूति को विद्ध करती है।" यह सकोच शमशेर में इस अर्थ में तो देखा जा सकता है कि उन्होंने कविता के प्रकाशन में उतनी रुचि नहीं ली, परन्तु कविता के सृजन में शमशेर न केवल निरन्तर रुचि लेते रहे हैं वरन् उनके व्यक्तित्व की सार्थकता मात्र उनकी काव्य-रचना में ही देखी जा सकती है। शमशेर के कवि व्यक्तित्व का विश्लेषण साही ने उनकी इन पंक्तियों

"अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
साध्य तारप सा
अतल में।"

के आधार पर करते हुए लिखा है "अतल में गिरने से पहले सकोच का, अटकाव का एक झिलमिताता अन्तराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अस्तित्व के गर्म से अतल की ओर जाना है, नितान्त पराया हो जाना है। लेकिन इस बिलकुल निजी और बिलकुल पराये के बीच एक क्षण है जहाँ आँसू निजी भी है और नहीं भी है पराया भी है और नहीं भी है। न तो वह बिलकुल आत्मपरक है, और न बिलकुल वस्तुपरक। वह अभिव्यक्ति भी है और सकोच भी है।" साही का यह विश्लेषण पूरी सीर पर उचित लगता है। निजी और पराये के बीच का, आत्मपरक और वस्तुपरक के बीच का, अग्रिष्ठ और समष्टि के बीच का, सन्धि स्थल ढूँढना, उसे अपने विशिष्ट ढंग से अपने सृजन में प्रतिष्ठित करना अज्ञेय, मुक्तिबोध, भारती और शमशेर सभी का प्रमुख सरोकार रहा है। सब ने अपनी राह अलग बनाई है। शमशेर अपनी राह की विशिष्टता अपने शिल्प में घुला लेते हैं जहाँ 'चीन' या 'समय साम्यवादी' जैसी रचनाएँ भी वस्तुपरक नहीं रह पाती। इसीलिए युग को सम्बोधित करते हुए भी वे कहते हैं

"ओ युग या मुझे और लिये चल, जरा सा
और गा—कुछ ऐसे गा—

कि मैं सुनूँ और भूँ

१ शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट—विजयदेव नारायण साही।

२ शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट—विजयदेव नारायण साही।

और उन नये मानों को आत्मा से चूमूं
जो मेरे होंगे और मैं जिनमें हूँगा ।”^१

वे ऐसे कवि हैं जिन्हें युग सन्देश नहीं देता, समीत देता है जिसे सुनकर वे सूमते हैं । युग के मानों को आत्मा से चूमते हैं । शमशेर का कवि सृजन के प्रति इतनी गहराई से समर्पित है कि वह कभी निराला के प्रति, कभी मुक्ति-बोध के लिए और कभी अज्ञेय के प्रति उन्मुख होकर रचना शील हो उठता है । इसी प्रकार त्रिलोचन पर उन्होंने कविता लिखी है । अपने युग की मृज्जन-रत मनीषा से शमशेर बराबर साक्षात्कार की स्थिति में है । बहुत पहले उन्होंने निराला के लिए लिखा था

“भूल कर जब राह—जब जब राह—भटका मैं
तुम्हीं भूलके, हे महाकवि,
सघनतम की आँसु बिन मेरे लिए ।”^२

निराला को शमशेर ने “ऋतुओं के विहँसते सूर्य” की सजा दी थी । उसके पच्चीस वर्ष बाद वशि ने मुक्तिबोध के लिए लिखा

“समाने भर का कोई इस क्रूर अपना न हो जाय
कि अपनी जिन्दगी तुम आपको बेमाना हो जाय ।”^३

निराला और मुक्तिबोध तो उनके आत्म समर्पण के अधिक निरुद्ध हैं इसलिए उनके प्रति उनका लगाव कहा जा सकता है, परन्तु ‘अज्ञेय से’ कविता में भी शमशेर का निवेदन मननीय है

“वशि तो है शक्ति
स्थिरता,

काल-क्षण में

एक सौन्दर्य की अमरता”^४

जिस “काल क्षण में एक सौन्दर्य की अमरता” की बात शमशेर करते हैं उस क्षण की विविक्त संपूर्णता और अमरत्व की महिमा बखानने में तो अज्ञेय ने सभी पहल की है । कहने का तात्पर्य यह है कि शमशेर जितने विशिष्ट हैं,

१ ओ युग आ, मुझे और लिये चस—जरा-सा—चुका भी हूँ मैं नहीं,
पृ० १७ ।

२ निराला के प्रति—कुछ कविताएँ, पृ० ७ ।

३ गजानन मुक्तिबोध—चुका भी हूँ मैं नहीं, पृ० २५ ।

४ अज्ञेय से—कुछ कविताएँ, पृ० ६४ ।

उतने ही सरोचहीन ढंग से वे अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभावों को रेखांकित करते हैं, वपतव्यों में भी और कविताओं में भी। उन्हें यह भय नहीं आत्रान्त करता कि लोग मुझे किमी से प्रभावित कहेंगे। उनका अपना वैशिष्ट्य वह तेजाव है जिसमें कड़ी-से-कड़ी धातुएँ घुल जाती हैं।

अन्त में शमशेर की प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति की चर्चा के साथ इस वैयक्तिकता की चर्चा को समेटना चाहूँगा। यदि शमशेर की सभी कविताओं का एक ही शीर्षक सोन्दर्य दिया जा सकता है, जैसा कि श्री विजयदेव नारायण साहो कहते हैं तो यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं का केन्द्रीय सवेदन प्रेम का सवेदन है। परन्तु उनकी प्रणयविव्यक्ति छायावादी कवि की भाँति तरल या उत्तर छायावादियों की तरह उच्छल नहीं है। वहाँ तो सिर्फ बीती हुई अनहोनी और होनी की उदास रंगोनियाँ हैं जिन्हें कवि ने असाधारण काव्य-सामर्थ्य के साथ रेखाया म उभार कर प्रस्तुत किया है। उनकी 'टूटी हुई, बिखरी हुई', 'शाम और रात', 'जिन्दगी का प्यार', 'सावन' 'एक दोस्त से' जैसी कविताएँ तो सीधे प्रेम की अनुभूति और प्रसंगों को चित्रित करती हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ओक रचनाएँ इस सवेदना से जुड़ी हुई हैं। 'टूटी हुई, बिखरी हुई', की कई कड़ियाँ असाधारण शक्ति से हमें झकझोरती हैं

“भुझको प्यास के पहाड़ों पर लिटा दो जहाँ मैं

एक भरने की तरह तड़प रहा हूँ।

भुझको मूरज की किन्नी में जलने दो—

ताकि उसकी आँस और लपट में तुम

फौधारे की तरह नाचो।”

अथवा

“हाँ, तुम भुझमें प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं

जिनमें वह घँसने नहीं आती,

जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं

जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पातीं

तुम भुझको प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।”

अथवा

आह, तुम्हारे दाँतों से जो ■■■ के तिनके की मोक

उस विनिक में चिपकी रह गयी थी

आज तक मेरी नाँद में गड़ती है।”

इन पक्तियों को पढ़कर रघुवीर सहाय की इस टिप्पणी से आसानी से सहमत हुआ जा सकता है।

“शमशेर कविता के माध्यम से अपने को एक वेहतर, स्वतंत्र, अकेला, इन्सान बनाते हैं और यह तीनों विशेषताएँ ऐसी हैं कि प्रेम में उनमें से कोई एक बाकी दोनों से अलग हासिल नहीं की जा सकती।”^१

सबसे अधिक कवि के रूप में और इन्सान के रूप में शमशेर एक वेहतर स्वतंत्र और अकेला इन्सान है। शमशेर के काव्य-व्यक्तित्व के संबंध में श्री विजयदेव नारायण साही का यह कथन पूरी तौर पर सगत और सार्थक है।

“भावसंवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि कायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता। अतिशयार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है लेकिन कवि जिसका कायल नहीं है और जिसे दबाकर निकालकर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ अपने को वायवीय बनाकर असंभव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ अपने को पत्थर की तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई वायवीयता को दबा देने की कोशिश है। इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शान्ति की तरह स्थिर है।”^२

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है ‘नयी कविता की पहचान जहाँ से बननी शुरू होती है, वहाँ सर्वेश्वर की कविताएँ हैं।’^३ उसी क्रम में आगे विचार करते हुए चतुर्वेदी जी कहते हैं कि ‘दो भाव स्थितियों को आमने-सामने रखकर उनके तनाव से अर्थ को अकृत करना नयी कविता की विशिष्ट प्रक्रिया है, जो मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, लक्ष्मीशान्त वर्मा जैसे कवियों की रचना में शक्ति का उत्सव है।’^४ इस तनाव का आरम्भिक सरल और आत्मीय रूप सर्वेश्वर में मिलता है।^५ चतुर्वेदी जी की यह टिप्पणी सर्वेश्वर की कविता की एक विशिष्ट पहचान को रेखांकित करती है। वास्तव में

१. टूटी हुई, बिखरी हुई। एक प्रतिक्रिया—रघुवीर सहाय। शमशेर, पृ० १२६।

२. शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट—साही।

३. नयी कविताएँ। एक साक्ष्य—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १७।

४. वही, पृ० १६।

सर्वेश्वर की प्रारंभिक कविताओं में व्यंग्य की वह तराश नहीं है, जो हमें उनकी बाद की कविताओं में दीखती है। किन्तु व्यंग्य के अकुर वहाँ भी साफ दिखाई पड़ते हैं। 'काठ की घंटियाँ' शीपंक में ही वह स्पष्ट रूप से ध्वनित है। जो काठ की ही बनी है उस घण्टी में ध्वनि या सगीत क्या होगा? परन्तु है, वहाँ ध्वनि भी है और सगीत भी। फिर भी घण्टी काठ की है। सामान्य और साधारण को अभिव्यक्ति और स्वर देने की बेचैनी पूरी तौर पर इन 'काठ की घण्टियों' में निहित है :

"बजो

ओ काठ की घंटियो ।

बजो

मेरा रोम-रोम देहरो है

सूने मन्दिर को—

सजो,

ओ काठ की घंटियो,

सजो

×

×

×

शायद बल

किसी के कर्णों पर चढ़कर

फिर मेरा बीना अहं

विवश हाथ फैलाये ।"

इस कविता में उस 'अपराजेय विवशता' का स्वर हम सुन सकते हैं जिसकी चर्चा श्री विजयदेव नारायण साही ने अपने निबन्ध 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में की है। यह अपराजेय विवशता पूरी नयी कविता में किसी न किसी रूप में व्याप्त है। सर्वेश्वर की प्रारंभिक रचनाओं में भी इस स्वर की सरलता से पहचाना जा सकता है। काफी पहले की रचना 'ये तो परछाईं है' में इस स्वर को सुना जा सकता है :

"बोलना चाहता है, अपनी ही पगध्वनि में बोल,

दर्द की गाँठ तू अपने ही धातों पर खोल,

अपनी उलझी हुई साँसों पे हो रुमाल हिला

अपने धक्के हुए कदमों से ही तू हाथ मिला,

राह तेरी तभी षट्गेगी
अभागो इन्सान,
एक बुझते दिये से
दूसरा जला अरमान
कोई उम्मीद न कर राह की तस्वीरों से,
ये तो परछाई है
परछाई है
परछाई है ।^{११}

अपने दूटते हुए स्वर की ही प्रतिष्ठा इस पूरी कविता में है। राह की तस्वीरों से कोई उम्मीद न कर अपने यकते हुए कदमों पर ही भरोसा बनाये रखने की बात की गई है। भारती ने भी अपनी एक कविता में इसी बात को दूसरी शब्दावली में व्यक्त किया है। नये कवि में बढप्पन या बढबोलापन नहीं है। वह आश-विश्वास भरे स्वर में ऊँची बातें नहीं करता है। उसे अपने चारों ओर एक चरमराती हुई मूल्यानुभूति कचोटती है। वह अन्तर्मन्यन की पीड़ा से गुजरना है, परन्तु वह अन्तर्मन्यन उसे कहीं इतना कुछ सीखा बना देता है कि वह व्यग्य का सहारा लेने लगता है। सर्वेश्वर में उस व्यग्य की प्रक्रिया क्रमशः तीखी होनी गयी है। कवि की प्रारम्भ की रचनाओं में भी यह व्यग्य था जैसा हम 'पोस्टर और आदमी' 'कलाकार और सिपाही', 'पीस पगोडा' आदि कविताओं में देखते हैं। किन्तु बाद में तो इसका स्वर और अधिक तीखा होता गया है। 'पोस्टर और आदमी' की इन पक्तियों का व्यग्य देखा जा सकता है :

"लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के जमाने में
आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से बड़े सत्य हैं ।"^{१२}

अथवा एक दूसरी कविता में :

"एक लाख सड़ो करके
दूसरी लाख उसके सिर पर तिठा दी गई है,

१. ये तो परछाई है—कविताएँ—१, पृ० १२-१६ ।

२. पोस्टर और आदमी—कविताएँ—१, पृ० १२५ ।

सावि उसकी छाँट तले
ठंडक ॥ ऐंठे हुए
शे बेहोश जहरीले साँपों के फन
एक ही कमल की पल्लुरी पर
गुसाये आ सबें ।”

ऐसे सीखे व्यंग्य के अनेक प्रसंग और शायियाँ सर्वेश्वर की कविताओं में प्राप्य हैं। व्यंग्य का यह तेवर और तत्त्वों एवं दूसरे सहजों में श्री लक्ष्मीनान्त वर्मा की कविताओं में ध्वनित है। मूल्यों का स्थला और वैयक्तिक जीवन की कूटा दोनों कवियों को व्यंग्य की ओर भोड़ती हैं किन्तु सर्वेश्वर का स्वर अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक प्रतीत होता है, और लक्ष्मीनान्त वर्मा का अत्यधिक वैयक्तिक। यही यह बात भी रेखांकित करने योग्य है कि ऐसी ही स्वित्तियाँ मुक्तिबोध को आक्रोश और फैंटेसी की ओर ले जाती हैं। अतः मुक्तिबोध की काव्यानुभूति में ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो उन्हें व्यंग्य की ओर नहीं, बरन् आक्रोश और सत्त्व की मुद्रा की ओर धरबस पीचता रहता है? और जब नहीं खींच पाता तो उन्हें फैंटेसी के लोभ में भ्रमण कराने लगता है। ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध में एक गहरी आस्था है जो सत्त्व और गम्भीरता का दामन नहीं छोड़ती जबकि सर्वेश्वर में वह दूसरा रास्ता ढूँढ़ती है। यह नहीं कि उनका आक्रोश हमेशा व्यंग्य ही बन जाता है। वही कभी-कभी आक्रोश, टीस और हताशा का रूप भी धारण करता है। “लोहिया के न रहने पर” की इन पक्तियों को देखा जाये

“लो ओर तेज हो गया
उनका रोजगार
जो कहते आ रहे हैं
पैसे लेकर उतार देंगे पार ।
सुम्हारी घनी मोहों के बीच की
वह गहरी सफ़ोर
अभी भी गढी है वहाँ बल्लो सी
जहाँ अयाह है जल
और तेज है धार ।

+

+

+

झरुं में पड़ी गोली लकड़ियाँ
अपना तिल-तिन जलाकर
वह गरमाता रहा,
और जब आग पकड़ने ही वाली थी
छतम हो गया उसका शेर
ओ मेरे देशवासियो
एक चिनगारी और ।”^१

इस कविता में बचोट इतनी तीखी है कि वह व्यंग्य बनकर नहीं फूट पाती। वह तो एक चिनगारी और मांगती है।

काफी पहले अज्ञेय ने सर्वेश्वर के सबंध लिखा था “कवि की आस्था एक और दृष्टि उसे दे देनी है कि जीवन की संपूर्णता को देख सके—उस संपूर्णता को जिसमें अनेक अपूर्णताएँ, सुटियाँ, व्यर्थताएँ, विमाज्जन और परिसीमन-रेखाएँ समायी हुई हैं और दूसरी ओर उसे कर्मठ और कृतनिश्चय भी बनाती हैं।”^२ अज्ञेय का सर्वेश्वर के विषय में किया गया मूल्यांकन कवि की आगे की रचना-यात्रा में पूरी तीर पर चरितार्थ नहीं हो पाता। आस्था का स्वर टूटता है, कर्मठता और कृतनिश्चयता एक व्यंग्यात्मक राह पर लगती चली जाती है। और ऐसा होना कवि के युग-सन्दर्भ का एक निश्चित परिणाम है। जहाँ व्यंग्य भी चुक जाता है वहाँ एक स्पष्ट हताशा का स्वर उभरता है :

“रेत की नदी एक मिली राह में।

समय बीतता गया

रेत बढ़ती गयी

बब गयी नाव

बब गया जाल

बब गया तैर कर

पार जाने का डयाल

चिह्न भी तट के धीरे-धीरे सो गये

जल के ओर थल के भाव एक हो गये ।”^३

१ लोहिया के न रहने पर—कविताएँ, २, पृ० १०१-१०२।

२ नयी कविता अब २, पृ० २५-२६।

३ रेत की नदी—कविताएँ—दो, पृ० १५१।

कितनी विपादमय निराशा इन पक्तियों में व्याप्त है ? परन्तु सर्वेश्वर में कुछ ऐसा है जो टूटना नहीं चाहता, जो उन्हें धामे रहता है । वे कहते हैं

‘ हवा के झोंको को
टोकरों की तरह सिर पर रखे
नाच रहे हैं पेड़
भुको मत घ्यथा के भार से ।
चुलचुली हैं पत्तियाँ
सिर मटकातो हुई गिरती हैं ।
चाँदनी होठों पर
एक बँधी-नाच की
जँगली रखे लड़ी है,
फिर भी मदी बोले ही जाती है :
कहते चलो खो मत
उम्र की मार से ।

+

+

+

पगडिडियों की तरह
छोड़ दो इस तन को
कुछ दूर तक ही सही
झोड़ने दो मन को ।
आखिर किसी बस्ती तक पहुँच कर
लौट आयेगे हिरन ।^{१११}

मन की उड़ान को बनाये रखने की मन स्थिति तो सर्वेश्वर का यदि सँजोये ही है साथ ही वह जीवन के नये अर्थों से अपने को जोड़ने को भी तत्पर है । एक कविता में वे कहते हैं

‘ मैं उन हाथों को घूम लेना चाहता हूँ
यद्यपि उ होने मेरे अर्थ नहीं पछि ।
फिर भी सुबह से शाम तक
ये धाँधी से नरी घर की धूल को
साफ करते रहे,
सदजी, छीलते, अँगोठी गुलगाते,

रोटियाँ सेकते, कपड़े धोते-मुखाते,
इस्तरी करते, बच्चों को नहलाते-धुलाते
और अपने गमलों के कैवटस में भी पानी देते
मैंने उन दुबले हाथों की हड्डियों और उमरी
मोली नसों पर
एक चमक देखी है—
जो हीरे की अंगूठियों की तरह
झिलमिलाती है।”^१

सर्वेश्वर की इस रचना में जो नारी रूप हीरे की अंगूठी की तरह झिलमिला रहा है, उसका दर्शन अन्य किसी भी नये कवि में शायद ही होता हो। केवल लक्ष्मीकान्त वर्मा की एक कविता में उनकी 'अभावो की नायिका' अपने प्रौढ़ रूप में चित्रित हुई है, परन्तु वहाँ अधिक ध्यान अभावो पर केन्द्रित होता, नायिका पर नहीं। सर्वेश्वर ने एक अत्यन्त ही स्वस्थ, सहज एवं भारतीय गार्हस्थ्य परम्परा के अनुकूल विकसित होती हुई मानसिकता को अपनी काव्यानुभूति का अंग बनाया है। नारी का जीवन से छसछलाता मादक रूप और कोमल समर्पण तो बार-बार कविता का विषय बनता रहा है, नयी कविता का भी। पुरानी पडती हुई पत्नी कविता के बाहर चली जाती रही है। कहीं-कहीं तो कवि के जीवन से भी बहिष्कृत हो जाना उसकी नियति रही है। साहचर्य के और भी आग्राम होते हैं, जो किसी स्वस्थ मानस को एक अलग प्रकार की सहानुभूति दे सकते हैं और रचना का ताप भी जुटा सकते हैं, ऐसा कवि प्रायः नहीं मानता देखा गया है। परन्तु सर्वेश्वर ने 'सच्ची छीलते', 'अंगूठी सुलगाते', 'रोटियाँ सेकते', 'कपड़े धोते-मुखाते', 'बच्चों को नहलाते-धुलाते', गमलों में पानी देते' हुए हाथों की दुबलाती हुए चमक को अपनी आँखों और संवेदना में भरकर जो एक नयी मानवीय ऊर्जा अपनी रचना में उत्पन्न की है, वह निश्चय ही श्लाघनीय है। भारती ने तो यही मान लिया था कि प्रेम की समर्पण भूमि नारी को कुछ समय के लिए सुलभ होती है, फिर वह 'तुच्छ ईर्ष्या' अह और ऊन-सलाई के फन्दों में जीवन का ताना-बाना बुनने लगती है—ऐसा तिरस्कार-भाव प्रौढ़ होती हुई पत्नी के प्रति कविता का सहज भाव बनता रहा है। सर्वेश्वर की इस रचना में गहरा सन्त है। सर्वेश्वर अपनी प्रियतमा के चेहरे पर उस चुम्बन की तलाश करते हैं, जो कभी अत्यन्त गरमाहट के क्षणों में

उन्होंने अश्रित कर दिया था। यद्यपि गालो पर कोयलों की दहकती हुई आग भव नहीं है,^१ परन्तु कवि के 'प्यार का जलपाघी' अपनी प्रियतमा में डूबने में बाज नहीं आता।

सर्वेश्वर की बहुत सारी रचनाओं को विवेचना यहाँ सम्भव नहीं है, परन्तु उनमें जो बेचैनी, अकुलाहट तथा आज के युग-सन्दर्भ की गहरी पकड़ है उसे उनकी अधिकांश रचनाओं में देखा जा सकता है। हाँ, यह सही है कि देश के स्पन्दन की बेन्द्र-भूमि (दिल्ली) में रहते हुए सर्वेश्वर के लिए अभी उस घरातल तक जाना स्वीकार्य नहीं हुआ, जहाँ विश्व की विराटता, रहस्यात्मकता तथा उसकी व्यापक घुम्बकीयता हमें इस ससार की पार्थिव अनुभूतियों के परे देखने और अनुभव करने को विवश करती है। नरेश मेहता की नयी कृति 'उत्सवा' की रचना-भूमि अथवा अक्षेय के 'आँगन के पार द्वार' तथा उसके बाद की अधिकांश कविताओं की मानसिकता अभी वही स सर्वेश्वर की प्रेरणा का स्पर्श नहीं कर रही है। अभी तो ये पूरी निष्ठा, जीवन्तता और तीक्ष्णता के साथ अपने परिवेश से—तात्कालिक परिवेश से जुझ रहे हैं।

अन्त में उनकी लम्बी कविता 'कुआनो नदी' के माध्यम से उनकी वैयक्तिक दृष्टि को रेखांकित करने का प्रयास करना चाहूँगा। 'कुआनो नदी' मध्यवर्गीय कवि-चेतना की प्रतीक है। 'लोहिया के न रहने पर' रचना में सर्वेश्वर लिखते हैं

‘ बर्फ़ में पड़ी गीली लकड़ियाँ
अपना तिल तिल जलाकर
यह गरमाता रहा,
और जब आग पकड़ने ली वाली थी
जलम हो गया उसका बौर ।’

लोहिया अपना तिल तिल जलाकर बर्फ़ में पड़ी गीली लकड़ियों को गरमाते रहे और सर्वेश्वर अपने लिए लिखते हैं -

“बर्फ़ की एक तिल मेरे ऊपर
बर्फ़ की एक तिल मेरे नाँचे
बर्फ़ की एक तिल मेरे दाँवें
बर्फ़ की एक तिल मेरे बाँवें ।”

लेकिन जाने कैसी यह आग है, जो बुझती ही नहीं। परिस्थितियों की बर्फीली सिलें कवि की चेतना में दहकती आग को बुझा नहीं पाती, इतना ही नहीं

वे स्वयं उस आग से पिघलने लगती हैं। कुआनो नदी कुआं से निकली बताई गई है, परन्तु उसकी धारा में तो घस्तुत कवि की चेतना से पिघली हुई बर्फ का जल ही बह रहा है। परन्तु अपने लम्बे बहाव में कुआनो नदी अपनी धारा में अपने तट प्रदेशों में वे सारी स्थितियाँ प्रतिबिम्बित और चित्रित करती चलती हैं जो आज की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन की कट्टी सच्चाइयाँ हैं। अनेक प्रतीक बिम्ब मालाएँ, संकेत इस विराट् चेतना-प्रवाह में दूबते-उतराते चलते हैं। उनमें सम्बद्धता भी दिखनी है और असम्बद्धता भी, जो जीवन के परिप्रेक्ष्य में उचित ही है। चारों ओर की मूल्यहीनता, भगदड़ इस लम्बी कविता में अनेक ढंग से ध्वनित होती है।

“तट पर न रेत थी न सीपियाँ

सहस्र फँकरीली ज़मीन थी काई लगी

वहाँ वहाँ दल-दल था झाड़ियाँ थीं दूर तक

मिनमें सोते बुलबुलाते रहते थे

और चिड़ियाँ एक टहनो से दूसरी टहनो पर

शोर करती झूलती रहती थी।”

पूरी कविता का विश्लेषण यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। कवि जिन विसंगतियों, अन्तर्विरोधों, मूल्यहीनता और लूट छसोट के राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों में जी रहा है, उसका सशक्त चित्रण इस कविता में है और उसी सब के बीच उसकी चेतना का प्रवाह ‘कुआनो नदी’ के रूप में आगे बहता जा रहा है।

विजयदेव नारायण साही

शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट पर लिखते हुए साही ने जिस मानार्थीय विडम्बना की बात उठाई है, वह शमशेर से अधिक स्वयं साही पर लागू होती है। श्रुतित्व की सार्थकता का प्रश्न जितना मालामों के मन में धक्कर काटता होगा, लगता है उससे कम साही के मन में धक्कर नहीं काटता। और अपाहिजत्व की देवी आधुनिक कल्पना जितना मालामों को मृजल विरत करती है उससे कम साही को नहीं करती। साही नयी कविता के सशक्त स्वर हैं। किन्तु उन्होंने सब से कम लिखा है। फिर भी वे नयी कविता के मृष्टा ही नहीं, व्याख्याता और चिन्तक के रूप में भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। परिमाण और सख्या नहीं बरन् गहराई और स्तर ही सृजन का निर्णायक मानदण्ड होता है, इसे साही का श्रुतित्व एक बार पुनः प्रमाणित करता है। फिर भी यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि साही ने इतना कम क्यों लिखा है और जो भी लिखा है, वह

इतना महत्वपूर्ण, मौलिक और गहरी आन्तरिक सगति से युक्त क्यों है। साही की वैयक्तिकता के अध्ययन में इस मुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न एक विशेष सार्थकता रखता है।

साही जब लिखते नहीं हैं तो ऐसा नहीं है कि वे कुछ और करते हैं। कुछ लगातार उनके चिन्तन यंत्र में चक्कर काटता रहता है, रूप और सगति ग्रहण करता रहता है। जिन्होंने आर० एल० स्टीवेन्सन का 'एन अपॉर्नॉजी फॉर आइडल्स' पढ़ा होगा, वे साही की मानसिकता की थोड़ी समझ बना सकते हैं। यह चिन्तन उस समय और अधिक आकार ग्रहण करने लगता है जब वे सोलने लगते हैं। उनका सोलना निरन्तर एक प्रकार का मुखर चिन्तन (loud thinking) होता है। वे बेबल चमत्कार पैदा करने के लिए कोई बात नहीं करते। टिप्पणी और चमत्कारिक उक्तियाँ उनकी विशेषता नहीं हैं। वे बराबर एक विशाल पैटर्न घुमते रहते हैं, जिसमें काल और दिशाएँ भ्रंजती हैं। उनका परिप्रेक्ष्य (Perspective) कभी भी मात्र तात्कालिक नहीं होता। वे युग के प्रवाह की सगति ढूँढते रहते हैं। सगति की तलाश में लगातार उनका मन गुम रहता है। जब उन्हें छेड़ा जाता है तो उनका मुखर चिन्तन शुरू होता है। यदि कॉफी हाउस से लेकर गोष्ठियों तक लगातार बहनेवाला उनका चिन्तन टेपबद्ध किया जा सका होता तो परिमाण की दृष्टि से भी साही का गद्य-साहित्य सबसे अधिक होता और समृद्धि या स्तर की दृष्टि से तो वह अपनी विशिष्टता रखता ही। किन्तु इस मुखर चिन्तन की सस्कारिता ने साही को लिखने से विरत भी किया है। एक सम्झी बातचीत के बाद जब भी साही अपनी श्रोतामण्डली को पूरी तौर पर अभिभूत छोड़कर अलग होते हैं, तो अनजाने उनका सृजनशील मन कहीं-न कहीं यह अवश्य मान लेता होगा कि आज का काम हो चुका। इस दृष्टि से लोहिया और साही की भ्रृति एक-सी है। राजनीति के शीर्ष पर होने के कारण लोहिया के अनेक व्याख्यान टेपबद्ध हो सके और उनका एक साहित्य उपलब्ध हो सका, वरना आज लोहिया के नाम पर टूटी-फूटी असम्बद्ध टिप्पणियाँ ही हमें वायुमण्डल में गूँजती मिलती। इस आदत ने साही के कवि को सबसे अधिक बाधित किया है। धुंधुवाती हुई अनुभूतियाँ यदि पक्वबद्ध नहीं हो सकी तो न जाने कब तक प्रतीक्षा में खड़ी रहेंगी।

प्रत्यचा कब तनती है, उससे तीर कब छूटता है, इसकी सम्झी प्रतीक्षा स्वयं कवि को करनी है। परन्तु यदि एक बार भी तीर छूट गया तो फिर वह 'सामने जाता हुआ दिखाई' देता रहेगा।

“जब भी तुम आँखें उठाओगे
 तुम्हें सामने वह तीर
 जाता हुआ दिखाई देगा—
 उसका कोई लक्ष्य नहीं है
 क्योंकि जो कुछ भी उसके आगे पड़ता है—
 आकाश की तरह रास्ता बे देता है
 वह केवल जाता रहता है
 उड़ता, जगमगाता ।
 सिर्फ एक तीर ।”^१

और उसके बाद बहुत असें तक प्रत्यक्षा का कोई उपयोग नहीं रहता क्योंकि तीर ही नहीं होता । परन्तु उस एक तीर का ही कमात इतना गहरा होता है कि उससे चोट खाकर मरा पक्षी कवि का स्थायी साथी बन जाता है । चाहे वह जहाँ जाये, उसके पैरों के पास पड़ा रहता है । कभी भी उससे छुटकारा नहीं मिलता । निर्जन पर्वतमालाओं पर चीड़ के वनों में वह बार बार जीवित हो उठता है । अज्ञेय की सृजन प्रक्रिया से साही की सृजन प्रक्रिया काफी भिन्न है । अज्ञेय में एक अजित सन्तुलन है, जिससे वह अलग अलग समय पर अलग-अलग कार्य करते रहते हैं । कविता की रचना उनके अन्तराल में कभी सारे पार्थिव व्यापारों से पृथक् होकर हो जाती है । साही का सृजन उन उमड़ते हुए मेघ खण्डों की भाँति है जो उनसे मानसिक आकाश में चक्कर काटते रहते हैं और कभी वह क्षण आ ही पहुँचता है जब बादल बरसने लगे तो फिर उन्हें कौन रोक सकता है ? परन्तु अधिकांशतः वे आकाश का चक्कर लगाते रहते हैं । उनका यह कहना पूरी तीर पर ठीक है

‘ एक काली चट्टान है
 जिस पर बेतहाशा धारा
 अपना सिर पटकती है
 सेखिन हिला नहीं पाती
 सिर्फ चट्टान रह रहकर
 पुन जाती है
 और उसके मंथि बसेवर से
 हजार सूरज घमघमते हैं ।”^२

१ सामन-आसनास पीछे—मछलीघर, पृ० १ ।

२ सामन आसनास पीछे—मछलीघर, पृ० ५ ।

कात्ती चट्टान पर धारा का सगातार सिर पटवते रहना तथा चट्टान के भीगे कलेवर से हजारों मूर्तों का चमकना अथवा प्रत्यक्षा से तीर का छूटना और फिर प्रत्यक्षा का लम्बे अर्धे तक डोला पड़ते जाना या तीर का चुक जाना यह सब साही की सृजन प्रक्रिया का ही आख्यान है।

जिस व्यक्ति की अथवा उसकी वैयक्तिकता की केन्द्रीय स्थिति नयी कविता में रेखांकित करने की कोशिश की जा रही है, उसकी अत्यंत मौलिक पहचान उसकी निनास्त अकेलेपन की नियति है। भुक्तिबोध जैसा समर्थ और घोषित रूप से सामाजिक चेतनावृत्ता कवि भी भीड़ में अथवा जुलूस में अकेले पड़ जाने की बात करता है। अज्ञेय तो उसे कई प्रकार से छवित करत है। कभी प्रत्येक व्यक्ति को बोधिसत्व मानने की उनकी घोषणा व्यक्ति के एकाकी महत्त्व को मान्यता देने की एक प्रक्रिया प्रतीत होती है। दूसरी ओर 'अजनबी' व्यक्तित्व में भी उसी स्वीकृति का दूसरा पक्ष सामने आता है तीसरी ओर उनका यह कथन भी कि 'भीड़ का मत हो डटा रह' व्यक्ति की एकाकी सत्ता की ही घोषणा है। साही उस स्थिति को जित रेखाओं में व्यक्त करत हैं उन्हें इन पंक्तियों में देखा जा सकता है

“आज की रात

मैं फिर अकेला छूट गया हूँ

इस अंधेरे गोलाढ़ में

जहाँ बेगवान नदियाँ हैं, जंगल हैं

गुप्त खरफीले शिखर हैं

और समुद्र से समुद्र तक दौड़ती हुई हवा है।

आज मुझे फिर लग रहा है

कि मैं आकाश के विराट् ढक्कन के नीचे

बन्द कर दिया गया हूँ

और मेरे साथ पर्वत, नदियाँ और समुद्र भी।”^१

साही का अकेलापन इस अर्थ में विशिष्ट है कि अकेला छूटने पर भी वे आकाश के विराट् ढक्कन के नीचे पर्वत, नदियों और समुद्रों के साथ बन्द हो जाते हैं। अपने अकेलेपन में भी उन्हें नदियों का प्रवाह, समुद्र की उत्ताल तरंगों की गर्जना और पर्वत शिखरों की सुरम्य घबल शृङ्खलाएँ उपलब्ध रहती हैं। इसीलिए उनकी अकेलेपन की स्थिति उस तरह काट खाने की नहीं दौड़ती

साही के दृष्टि प्रसार में ब्रह्माण्ड का विस्तार और इतिहास की ध्वनियाँ । एक साथ अनुगुञ्जित होती हैं । वे कहते हैं

“मैं इस ब्रह्माण्ड का विश्वास नहीं करता
इसकी रात विशाल है
और नहीं जानती कि मैं उन्हें देख रहा हूँ,
लेकिन मैंने इसे इसी तरह चक्कर खाते देखा है
और फमी-फमी सहमती उँगलियों से
छुआ भी है
उतराई हुई मछली की तरह ।”^१

साही के लिए लिखना अथवा सृजन व्यापार अत्यन्त ही नाजुक कर्म है । उनकी दृष्टि खण्डों को प्रसाधित करने में उतनी नहीं रमती जितनी पूरे परिप्रेक्ष्य को, फैलाव और विस्तार को एक गहन आन्तरिक संगति और संगीत में बाँधने में । इसीलिए उनकी कविताओं में उद्धरण काटकर कोई तर्क पद्धति विकसित करना न केवल एक खतरनाक काम है, बल्कि कवि की पूरी रचना-प्रक्रिया के साथ अन्याय भी । उनकी कविताओं को अपनी समग्रता में ही लेना संभव है । यही तो कविता मात्र के लिए यह कथन उचित है, परन्तु बहुत सी रचनाओं को से कुछ पंक्तियों के प्राणवान् अंश के रूप में उद्धृत करना न केवल संभव होता है, बल्कि उचित भी । लेकिन साही के साथ न यह उचित लगता है न संभव । इस दृष्टि से मछलीघर कविता को पूरी तौर पर प्रस्तुत करना चाहेंगे जो कवि की सर्जना, वैयक्तिकता और प्रेरणा-केन्द्र को एक साथ सङ्गत करती है ।

“मैं तुम्हें निर्मलित करता हूँ
कि मेरे साथ इस कल्पित लिटरी तरु आओ
और ठण्डे बाँच को इस दीवार को
होठों से छुओ
पर स्वयं तुम्हें परिपोषित कर देगा
ऊँचे गिरर की हवा की तरह ।
लिटरी के पार
तुम्हें अपनी ओर तारती हुई
को आगमन सरीसृपों आँखें दिखेंगी

और जैसे-जैसे तुम
नीचे से ऊपर टटोलते हुए
दीवार के सहारे उठोगे
वे आँखें तुम्हारे साथ उठेंगी ।
अब तुम वापस चले जाओ
और नीची निगाहों से
इस बन्द कमरे में घिरे हुए
ताजुक फूलों, सफेद सीपियों और सदाबहार पतियों के बारे में
विचारते रहो ?
कोई आतुरता नहीं है
क्योंकि निगाह उठाने पर
उस पार के दोनों आँखें तुम्हें धराधर दीखेंगी
निर्निमेष.
और तुम जय चाहोगे
धीरे धीरे इस ठण्डे काँच की दीवार के सहारे
तृष्णाहीन आकर टिक जाओगे
परिशोधित ।”

ठण्डे काँच की दीवारों को होठों से छूना, दरवाँ से ऊँचे शिखर की हवा की तरह परिशोधित होना, खिड़की के पार आसमान सरीखी आँखों को देखना और अपनी उठती हुई आँखों के साथ पार की दोनों आसमानी आँखों का उठते चले जाना यह सारा व्यापार किसी प्रेरणा केन्द्र से स्पन्दित होते हुए मृजन-भूमि पर अवस्थित होने की मन स्थिति को ध्वनित करता है। आगे वहाँ से वापस आकर ताजुक फूलों, सफेद सीपियों और सदाबहार पतियों के बारे में विचारते रह कर भी उन आसमानी आँखों की छाया कि उपस्थिति की अनुभूति सदा भिगोये रहती है।

साही के प्रतीको, बिम्बों और बिम्बलोको को कई-नई बार सहज ही स्वायत्त कर सकना संभव नहीं होता। अंधेरे में डूबे विशाल पैटर्न को जिस प्रकाश पुंज से वे चमत्कृत करते हैं, यदि पाठक उस प्रकाश के लिए ‘कलर ब्लाइण्ड’ हो तो फिर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा। फिर भी कुछ मुनाई पड़ता है जो नितान्त परिचित ध्वनि-सरीखा लगता है जिसकी लय और जिसका संगीत

अपने भीतर के लय और संगीत से अत्यन्त गहराई से जुड़े लगते हैं। तीसरा सप्तक की कविता 'हम सभी बेचकर आये हैं अपने सपने' जितनी बार पढ़ी जाय उतना ही इसका जादू गहराता चला जाता है। कुछ पंक्तियाँ अब भी उतनी ही गहराई से आकर्षित करती हैं

“लगता था जैसे जीवन का आखिरी सत्य
जिसको हमने, केवल हमने ही देखा है
जादू बनकर मुट्ठी में आने वाला है
मन में बिलकुल ऐसा ही पावन साहस था
पैरों में बिलकुल यही अनोखी निष्ठा थी
आँखों में कष्ट, मिथकल व्याकुल सपने।”

अथवा

विरासत करो

यह सिर्फ तुम्हारा बोध नहीं,
यह नहीं कि सिर्फ तुम्हारी किस्मत झूठी थी
यह नहीं कि केवल तुमसे ही थी चूक हुई,
उस पर्वत का जादू ही ऐसा होता है,
हम सब ने उस मदहोशी में—

मकली सच्चाई के सबसे अनमोल सितारे बेच दिये”

साही की प्रारम्भिक कविताओं में दर्द और उदासी का जो खुमार मिलता है उसका एक अलग स्वाद है। यह उदासी कमोवेश प्रत्येक नये कवि की पूँजी है। रामेश्वर, सर्वेश्वर, भारती, सब की उदासी का रंग अलग-अलग है। साही का दर्द उन्हीं के शब्दों में

“अगर केवल प्यार ही होता

तो उसे कह जातता !

यह अपरिमित प्यार

जो तन तोड़ता, लिखता, उमड़ता

त्रिवश उठता और गिरता

मीनता है परिधि को

केवल सतह है यह

सतह है केवल !

इसके तले

अरे क्या हुआ हुआ है शान्त यह, असहाय

की व्यष्टि और समष्टि के प्रति दृष्टिवाले प्रसंग में किया गया है। व्यक्ति-सत्य और समाज-सत्य का अतर्विरोध उनका सामजस्य, उनकी एकात्मता, उनके अतः सबघो की विभिन्न स्थितियाँ आज की युग-चेतना की एक प्रमुख समस्या है जिसका निराकरण नयी कविता ने प्रत्येक कवि ने अपने-अपने स्तर पर अपनी विशिष्ट मूल्यानुभूति के आधार पर किया है। इस सदर्भ में कुँवर नारायण का यह कथन महत्व रखता है कि “मेरा विश्वास है कि बाहरी जीवन की खोज से पहले आन्तरिक जीवन की खोज आवश्यक है। कवि के आन्तरिक जीवन की विशिष्टता ही है, जो अपने युग को, कोई विशेष अर्थ देकर, नये की तरह अपनी कला में प्राप्त करती है। कवि की वैयक्तिकता वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा जीवन कला में परिणत होता है।”^१ इस वैयक्तिक दृष्टि का ही परिणाम कुँवर नारायण की कला के प्रति निवेदित ये पंक्तियाँ हैं :

“ये पंक्तियाँ मेरे निकट आयीं नहीं,
मैं ही गया उनके निकट
उनको मनाने,
ठीठ, उच्छृङ्खल, अमाप्य इकाइयों को
पास लाने :”^२

इस एप्रोच में जो कवि की प्रज्ञा और प्रयास की ध्वनि सुनाई देती है वह पन्त की इन पंक्तियों से काफी भिन्न है

“वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
निकल कर आँसो से चुपचाप
बही होगी कविता अतनाम ।”

कुँवर नारायण केवल कवि के व्यक्तित्व के ही हामी नहीं है, उनके निकट प्रत्येक कविता का एक विशिष्ट व्यक्तित्व भी है। उनकी इस उक्ति की विशेष सार्थकता है : “कविता-विशेष का यही विश्वसनीय व्यक्तित्व उसकी स्वीकृति की सच्ची दलील होगी।”^३ इसी को ध्यान में रखते हुए कवि कहता है :

“क्योंकि मुझमें पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी

१ परिवेश—हम-तुम—कुँवर नारायण, पृ० ६।

२ ये पंक्तियाँ मेरे निकट—कुँवर नारायण—तीसरा सप्तक, पृ० २३०।

३ तीसरा सप्तक—वक्तव्य, कुँवर नारायण, पृ० २३४।

जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ संबंध रखती उन परायी पक्तियों से !
धीरे जिसकी गाँठ घर में बाँधता है
जिसी विधि से
विविध छन्दों के कलावे से ।”^१

कविता की स्वतन्त्र स्थिति की स्वीकृति जो इन पक्तियों में कुँवर नारायण के द्वारा व्यक्त की गई है, दूसरी शब्दावली में अशेष और नरेश मेहता द्वारा भी अपने स्रष्टा-भाव के प्रत्याख्यान की घोषणा में व्यजित है। केशकम्बली यही तो कहता है

“सुना थापने जो वह मेरा नहीं,
न धोना वा था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अभास्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है ।” (असाध्य धोना)

पक्तियाँ परायी हैं, कवि तो मात्र गाँठ भर बाँधता है। कुँवर नारायण ने अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। “अस्तित्व की मैंने दो बुनियादी परिस्थितियाँ मानी हैं—एक तो, व्यक्ति और अज्ञात है, तथा दूसरी, व्यक्ति और उसका सामाजिक वातावरण ।”^२ कुँवर नारायण ने अपनी कविता में दोनों परिस्थितियों का साक्षात्कार किया है। इन दो के अतिरिक्त तीसरी या कि कहे पहली है, व्यक्ति और उसका आन्तरिक ससार। कुँवर नारायण ने अपने वक्तव्य में इस तीसरी की बात नहीं बही है, किन्तु अपनी रचना में सबसे अधिक महत्त्व इसी को दिया है। ‘परिवेश : हम-तुम’ की पहले खण्ड (प्यार के सौमन्य से) की अधिकांश कविताएँ इसी आन्तरिक ससार की प्रतिछन्नियाँ हैं। अधिक विस्तार में जाना सम्भव नहीं है, परन्तु एक-दो उद्धरण ही कवि की नितान्त वैयक्तिक मन-स्थिति को उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त है :

१. ये पक्तियाँ मेरे निकट—कुँवर नारायण, पृ० २३८ ।

२. तीसरा सप्तक—वक्तव्य—कुँवर नारायण, पृ० २३३ ।

“हजारों साल बूढ़े मन्दिरों
 तुम घुम रहो,
 आरमोय है वह नाम जो अज्ञात
 उसको पढ़ने से पाप लगता
 फूल हैं उसको खुश की देन
 उनको पढ़ने से दाम लगता ।
 पतिन पावन बरसला धरती
 तुम्हारे पुत्र हैं जो जन्म ले ले—
 साक्षी हैं
 फूल दोनों में सिसकते जब धुँधले फूल,
 कुठित सभ्यता के किसी तोपक अर्थ में
 घनजात है सौन्दर्य की भाषा ।
 उस स्वच्छन्द रहने दो ।
 बड़े सयोग से हाँ यह कहानी
 सुनी ताने की जघानी
 प्यार के सौजन्य से ।”^१

कुँवर नारायण के सकेत, उनके विम्ब, उनकी भाषा भारती के सकेतों, विम्बों और भाषा के स्तर से भिन्न है किन्तु गुताह का गीत की अनुभूति बहुत कुछ इस कविता की अनुभूति के निकट की चीज है । “हजारों साल बूढ़े मन्दिरों” को चुप करने का तैवर ‘कलकित मालती की दुधमुँही कलियों’ की पीड़ा की अनुभूति, सौन्दर्य की भाषा, को घनजात मानने का आग्रह बहुत कुछ भारती की इन पक्तियों की याद दिलाते हैं

“किसी की गोद में सर धर
 घटा घने और बिखरा कर
 धमर विश्वास तो जाये
 घड़कते बक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व तो जाय,
 न हो यह घासना
 तो जिनगी की भाष कैसे हो ?”

रन्तु भारती की भाषा और सबत इतने प्रत्यक्ष हैं कि सीधे प्रभाव डालने हैं ।

कुँवर नारायण ने प्रणय के कई बोधन प्रसंगों को शब्द-वृद्ध किया है। विस्मय विभोर प्रणयानुभूति का यह मनोरम चित्र सहज ही आप्लावित करता है

“तुमने देखा,
कि हँसते सहारों ने ?
तुमने देखा,
कि साँसों सितारों ने ?
जैसे सुगह
धूप का एक सुनहरा दादल छा जाये,
और अनायास
दुनिया की हर चीज भा जाये ”^१

अथवा

‘जरा ठहरो लिम्बगी के इन दुश्नों को
फिर से सँवार लूँ
और उन सुनहले क्षणों को जो भागे जा रहे हैं
पुकार लूँ’

आकुल प्रतीक्षा और उसे न पहचान पानेवाली उपेक्षा के बीच खड़ा प्रेमी का यह विश्वास वितना विपाद भय स्पर्श संबोधे है

‘मैं जानता हूँ कभी-न कभी
तुम्हारे स्मरण की कोई अवश्य जिज्ञासा
या उसकी व्याकुल पुनरावृत्ति-मुझे खोजेगी,
लेकिन तब जब कि यह समूची दुनिया
मेरे हाथों से गिर कर टूट चुकी होगी
और मैं अस्तित्व के किसी विघटित प्रतीक में ही
पाया जा सकूँगा।
हमारी पछतातो आत्मायें अनन्त काल तक भटकेंगी
उस अर्थ के लिए
जो हम आज एक दूसरे को दे सकते हैं।’^२

१ तुमने देखा—परिवेश हम-तुम, पृ० २३।

२ आगने सामने “ ” पृ० ३२।

३ उपसहार—परिवेश हम-तुम—कुँवर नारायण, पृ० ३४।

के पुनर्लभ की कहानी है।" नचिनेता अपनी विराट् जिज्ञासा के सन्दर्भ में अपने पिता की सीमित जीवन-दृष्टि पर कटाक्ष करने से चूकता नहीं :

“पिता, तुम भविष्य के अधिकारी नहीं,
 क्योंकि तुम अपने हित के आगे नहीं सोच पा रहे,
 न अपने ‘हित’ को ही अपन सुख के आगे।

तुम अपने वर्तमान का सत्ता तो देते हो, पर महसूस नहीं।”^१

नया कवि व्यक्ति के वैयक्तिक मूल्य का इतना बड़ा आग्रही है कि वह केवल आयु की ही चरम प्रतिष्ठा स्वीकार नहीं कर पाता न पीढ़ी की ही। श्री विजयदेव नारायण साही की कविता ‘नये शिखरो से’ में इस ध्वनि को पूरी निस्संकोचता से व्यक्त किया गया है।

“ओ महा प्रलय के बाद नये उगते शिखरो
 है तुम्हें कसम इन ध्वस्त बिन्दुय मालाओं की
 मत शाश्वत भुक्ताना तुम अपना।
 आसूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
 कितने अगस्त्य आयेगे गुरु का वेश धरे
 आशीष वचन कहने वाले :
 धिर किन्तु तुम्हारा भस्तक यो ही भुक्त छोड़
 ये गुरुवर वापस नहीं लाट कर आयेगा।”^२

नचिकेता उद्धत और अशिष्ट नहीं, सत्याग्रही है। उसका सत्याग्रह ही अन्ततः उसे “सृष्टि-बोध”, “सौन्दर्य-बोध”, “शान्ति बोध” और “मुक्ति-बोध” तक ले जाता है। सृष्टि-बोध ने सन्दर्भ में नचिकेता की यह अभिव्यक्ति कवि की वैयक्तिक सर्जना-दृष्टि को अचूक ढंग से व्यक्त करती है।

“शब्द—

पहला शब्द

हर व्यक्तित्व

अपनी सृष्टि के सारांश में

अणुवत् अवेत्ता है।

उस सन्दर्भ देता है।”

इस उक्ति में नयी कविता की अनेक अर्थ शक्तियाँ एक साथ व्यजित हुई हैं जो कुँवर नारायण के व्यक्तित्व की भी उसनी ही सफाई से पहचान करती है।

लक्ष्मीकांत वर्मा

सप्तको के बाहर नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षरों में एक श्री लक्ष्मीकांत वर्मा हैं। वैयक्तिकता की दृष्टि से उनका अध्ययन कई अर्थों में विशेष महत्त्व रखता है। वे एक ऐसे कवि हैं जिन्हें शुद्ध कविता के लिए कभी भी समुचित अवकाश नहीं मिल पाया। परन्तु उनके भीतर का कलाकार और कवि सारी कठिनाइयों और बाधाओं के पहाड़ के बीच अपने मृजल की निर्भरिणी को जीवन्त बनाये हुए है। वे जितने सीखे कवि हैं, उतने ही बड़े चित्रकार। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा आज हिन्दी के एक माने में सर्वाधिक विशिष्ट कवि हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी कविता के साथ अधिकतम ज्यादाती करते हुए भी उसकी विशिष्ट मुद्रा को बनाये रखा है। वास्तव में कविता के साथ की गई लक्ष्मीकांत जी की ज्यादाती वस्तुतः समाज द्वारा की गई उनके प्रति ज्यादाती का ही एक निश्चित परिणाम है।

लक्ष्मीकांत जी के व्यक्तित्व को मात्र उनकी कविताओं से परखना भी उनके साथ ज्यादाती होगी। लक्ष्मीकांत जी उन कवियों में से नहीं हैं, जिन्होंने अपनी कला के बाहर अपने जीवन-यापन की व्यवस्था कर ली हो और जो भी समय मिले उसके प्रति समर्पण भाव से अपनी बना भलगे हो। वे उन कवियों में से भी नहीं हैं जो अपनी कविता के लिए अपने परिवार को, बीबी बच्चों को अलग-थलग फेंक कर अपनी निजी जिन्दगी को ही लापरवाही से पीच रहे हो। वे एक भारी भरकम परिवार की गाड़ी को अत्यन्त धीरज और साहस से बिना किसी सुनिश्चित आय की व्यवस्था के लगातार खींचते रहे हैं। सारी कड़वाहट को अपने में झेलते और भोगते हुए अपने बच्चों, भाइयों और सापियों में बौल्ल और मृदु व्यवहार का निर्वाह करते रहे हैं। किन्तु इस प्रक्रिया में उनका व्यक्तित्व कितना जर्जरित हुआ है, कितनी चोटें खाये हैं, उसके साथी वे स्वयं हैं, दूसरा उसकी झाँकी ही पा सकता है। इस लम्बी घुटती यात्रा में लक्ष्मीकांत जी सभी अत्यन्त बौल्ल आत्मीयतापूर्ण लहजे से अपने जीवन में भरतने हैं, तो सभी अत्यन्त कड़वाहट, तल्लो, व्यग्य और चोट करने वाली मुद्रा धारण कर लेते हैं। यह उनकी अनिवार्य परिणति है।

अपनी कविता में लक्ष्मीकांत जी ने निर्व्यक्तिजता की सभी झूठी मुद्रा भी

नही धारण की है। वे पूरी तौर पर वैयक्तिक कवि रहे हैं तथा उसकी स्वीकृति भी उन्होंने न केवल अपनी कविताओं में बरन् यत्र-तत्र बिखरे वक्तव्यों में भी सशक्त ढंग से की है। उन्होंने लिखा है कविता मूलतः कवि की व्यक्तिगत वस्तु है। उसकी व्यक्तिगत अनुभूति जब अपने ही अन्वेषण में तल्लीन होती है और जब उसके अज्ञित सत्यो के बीच से उसे उसकी दृष्टि स्थापित मूल्यों को देखने के लिए विवश करनी है तो वास्तव में उस अनुभूति का स्तर केवल कवि का व्यक्तिगत स्तर होता है। वह उस क्षण के यथार्थ से जूझता है, टकराता है, उससे प्रताडित होता है और उस घात-प्रतिघात, विघटन, और संघटन, संक्रमण और नियमन का वह क्षण कवि का व्यक्तिगत सत्य होता है। उस क्षण उसके निबट न तो आलोचक होता है और न पाठक, न तो उसके समक्ष प्रतिमान होते हैं, और न परम्परा। उस समय केवल वह होता है, उसकी प्रज्ञा होती है और यथार्थ का वह सजीव क्षण होता है। इस आत्म-भोग और भोग में भी तटस्थ रहने की प्रक्रिया में केवल परम्परा में मिले हुए कुछ शब्द होते हैं, जो कभी-कभी उसकी अनुभूति को भी बहाने करने में असमर्थ होते हैं। जो केवल माध्यम होने हैं एक झरने से सम्भावित अर्थबोध के। वस्तुतः शब्द भी उसके सामने निरावरण होते हैं, इसीलिए कभी-कभी वह उसको सीमित भी कर देते हैं।”^१

ऊपर की पंक्तियों में कवि ने अपनी कविता में वैयक्तिकता की जो स्थिति बतलाई है, उससे उनकी रचना-दृष्टि को देखने, समझने और परखने में काफी दूर तक सहायता मिलती है। लक्ष्मीकांत जी और अज्ञेय ने कम से कम घोषणा के स्तर पर तो यह स्पष्ट अन्तर है ही कि लक्ष्मीकांत जी स्वीकार करते हैं कि ‘कविता मूलतः कवि की व्यक्तिगत वस्तु है।’ जबकि अज्ञेय अपने भोक्तृत्व से मुक्त होकर रचना की भूमि पर अवस्थित होने की बात कहते हैं। निर्वाह कितना होता है, यह अलग सवाल है।

लक्ष्मीकांत जी अपनी जिन्दगी की तल्लख अनुभूतियाँ से इतनी गहराई तक दग्ध हैं कि तार-वार वे उनकी कविताओं में झनझना उठती हैं। इस झनझनाहट में कभी-कभी तो एक सशक्त और मार्मिक रचना बन जाती है और कभी-कभी गद्य और गद्य के टुकड़े जो अपनी कड़वाहट और तल्लखी में तो बेजोड़ हैं,

यह ढलान नहीं आ पाती है । लगता है कि उन्हें तराश के नाम पर अपने भीतर से उमड़ती कड़वाहट को छू छू कर हल्का या मद्धिम करना स्वीकार्य नहीं है । उनका आग्रह अनुभूति के तीखेपन पर है, कविता की ढलान पर नहीं । इसी सन्दर्भ में हम डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की इस टिप्पणी को भी ग्रहण करना चाहते हैं कि “समावनाएँ उनमें सदैव दिखती हैं, उपलब्धि से जैसे वे स्वयं हट जाते हैं ।”^१ परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कवि ने उपलब्धि जानी नहीं अथवा सदा वे वंचित ही हुए हों । कभी-कभी तो अपनी चरम कड़वाहट के क्षणों में भी उनका स्रष्टा चमक-चमक उठता है

“ओ विपरकम्भक

मैं वह स्थिति हूँ जिसमें नहीं कुछ शेष ।

केवल प्रवाह है प्रवचना का,

केवल दाह है दुर्घटना का ।

यही तो जीवन है,

इसीलिए मरा नहीं ।

भोगता हूँ—भोगी हूँ ।”^२

“अनुकान्त” की भूमिका (अपनी ओर से) में लक्ष्मीकांत जी ने कहा है इन कविताओं के विषय में मुझे इतना ही कहना है कि यह मरी व्यक्तिगत अनुभूतियों का संग्रह है । वही-वही इसमें पूरा परिवेश हमारे साथ रहा है, कहीं-कहीं मैं बिल्कुल अकेला रह गया हूँ । जहाँ परिवेश ने मेरी अनुभूति को गहराई दी है वहाँ मैं उसका शृणी हूँ लेकिन जहाँ मैं बिल्कुल अकेला रह जाता हूँ वहाँ किसी को दोषी नहीं ठहराता क्योंकि अन्ततोगत्वा सब छूट जाते हैं । केवल कवि का व्यक्तित्व और स्थितियों का गहनतम दबाव यही दो शेष बचते हैं ।”^३

‘कवि का व्यक्ति व और स्थितियों का गहनतम दबाव लक्ष्मीकांत जी की अनेक रचनाओं में फूटना चलता है । एक स्थल पर वे लिखते हैं

“जबड़आहट अपने ही में एक अर्थ है

सम्भाव्य है उस सन्तुलन का

जिसकी अभिव्यक्ति

१ नयी कविताएँ—एक साक्ष्य—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ५३ ।

२ विपरकम्भक—अनुकान्त—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ० २५ ।

३ अपनी ओर से—अनुकान्त—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ० ७ ।

एक नयी अभिव्यक्ति में
अवतरित हो
हमें परिशोधित सन्दर्भों से जोड़ती है
सोड़ती है अयाचित, असंतुलित अशों से
और यह टूटने की पोड़ा ।

सन्दर्भों से अलग ।
अवेलेपन की पोड़ा
संवेदना है
हमारे पृष्ठों के अर्थों की ।”

कडुवाहट की कवि ने एक अर्थ के रूप में देखा है । उसको एक सतुलन की
संभावना बतलाया है । वह संभावित सतुलन और नयी अभिव्यक्ति की अवतारणा
कवि के व्यक्तित्व में जिस रूप में स्थापित होती है उसका दर्शन हमें ‘ठण्डा
स्टोव, चाय का टिन, और खाली बोतल’ जैसी रचनाओं में होता है ।

“स्टोव आज ठण्डा है
हल्की सतरंगी बूझियों की छाया
धानिया चूने में लिपटी तुम्हारी बाया लदमी,
सावित्री, दमयन्ती, बेटरहाफ”
“केश विच्छिन्न आर्द्र के बादल से . नम शीले,
घर ऊपर आस
घुर्ने से भरी आँखें स्वाती सा पलकों में कृपासु,
हस के पंखों पर साफ-साफ
पमीने की घुँदों में लिपटा सुराग-टोका जया
मंजूषा, जैसे अदृश्य हिम गल जाये
माँग ॥ तिनदूरी लकीर प्रवाल-ट्रॉप जैसे पिघल जाये
साल खोरियों में लिखी पुस्तकियाँ बेबस मजबूर : जैसे
सीता की आँखें अशोकवन में
रात की खोरियाँ तुम्हारे प्रिय, जैसे बहार की ओस
अबुर के मस्तक पर मणि-मुकुट ।”

इन पवित्रों का कवि जिस मृजन-भूमि पर रचना-रत है वहाँ अनुभूति और
सर्जना का मणि-वाचन योग साफ-साफ झलकता है । यही वह सन्तुलन है और

नयी अभिरुचि की अवतारणा जिसनी ओर सवेत ऊपर कवि ने दिया है। पत्नी का अभावो भ दमनता प्रिया-रूप जो इन पंक्तियों में वर्णित है, सचमुच एक उपलब्धि है। यो लक्ष्मीकान्त जी की कचोट धीरे-धीरे जिस व्यंग्य की ओर बढ़ती है, वह स्वाभाविक ही है। वह न हुआ होता तो वे कचे कैसे रहते ? एवं कविता में उन्होंने लिखा है

“यदि उस दवा घेघने वाले ने
मेरे विष भरे दाँत तोड़ डाले
तो मेरा दोष क्या ?”^१

इसी में आगे वे लिखते हैं

“किन्तु मैं ऐसा भी नहीं करूँगा
अपने प्रत्येक घाय पर
अपने ही रक्त की आहूति दूँगा
तुम्हारे इन हाथों की—
लाठियाँ और उसमें मिचे हुए पत्थरों की
अपने रक्त का टीका दे
अमर घरदान दूँगा
ताकि तुम्हारा यह भ्रम बना रहे
कि हर रंगने वाला कीड़ा
(घाहे वह जो भी हो)
विपला होता ही है।”^२

कितना विचित्र सतोष है और कैसा उत्पीड़क सबल्य। तमाम थोटें छाफर भी यह न दिखाने का आग्रह नि सेरे विष के दाँत टूट चुके हैं। कवि अपने को निर्विष नहीं प्रस्तुत करना चाहता। सचमुच लक्ष्मीकान्त जी का क्रमशः व्यंग्योन्मुख स्वर उनके भीतर के आत्मसंघर्ष की एक निश्चित परिणति है। कवि के अन्दर अच्छाई-बुराई का द्वन्द्व उतना नहीं है, जितना दोनों को स्वीकार भाव से ग्रहण करने पर भी जीवन का मृग मरीचिका जैसा छवी रूप प्राप्त होने की व्यथा। एक स्थल पर वे लिखते हैं

‘और तब मेरी अपनी लघु स्थिति में
वह सब कुछ है, जो पावन है, मंगल है, शुभ है

१ मणिधर विषवश हीन—अतुकान्त—पृ० ४३-४८।

२ मणिधर विषदश हीन—अतुकान्त—पृ० ४७-४८।

किन्तु वह भी है जो रौरव है, गलित है,

धीमत्स क्रूरप, अपरूप है ।^१

इस गहन वैयक्तिक दौर से गुजरने के पश्चात् कवि उस भाव भूमि का साक्षात्कार करता है जहाँ उसे अपने ही जैसे उत्पीड़ित सघर्षरत मनुज की पीड़ा अपने से जुटती हुई महसूस होती है। 'तीसरा पक्ष' की भूमिका में वे लिखते हैं जो लोग सोचते हैं कि कवि निष्पक्ष होता है और केवल कविता लिखता है, वह बुनियादी गलती करते हैं। कवि कभी भी पक्षहीन नहीं होता, वह हमेशा पक्षधर होता है, वह पीड़ितों, उपेक्षितों, अभिषिक्तों के साथ होता है, सत्य के साथ होता है, इसीलिए वह न तो राजकवि बन कर जी सकता है और न केवल अपने तक सीमित रह सकता है। उसका इर्द गिर्द की समस्त, विजलाग, पीड़ित, शोपित एवं अपमानित दुनिया उसे बार बार चुनौती देती है। जो उस चुनौती को स्वीकार नहीं करता वह वही कवि धर्म के साथ भी न्याय नहीं करता।^२ इस भूमिका में केवल पक्षधरता की ही घोषणा नहीं है वरन् एक संक्षिप्त विश्लेषण है उस शोषण तंत्र का जो देश के अन्दर से बाहर तक फैला हुआ है। इस विश्लेषण के तर्क ही नहीं वरन् शब्दावली भी डा० राममनोहर लोहिया की शब्दावली से सीधे प्रभावित है। "काले गोरे के रंग-भेद", "नर-नारी के भेद", 'सत्ता और जनता का भेद', "जाति, वर्ण और आभिजात्य" के आधार पर बँटवारा ये सारे व सारे मुहाविरें डा० लोहिया के हैं। नयी कविता के अनेक कवि डा० लोहिया के विचारों और व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण किये हुए हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, की कई रचनाओं में डा० लोहिया के व्यक्तित्व एवं विचारों को गूँज सुनाई देती है।

"तीसरा पक्ष" तक पहुँचते-पहुँचते सदमीकान्त जी उतनी वैयक्तिक संसक्ति की मानसिकता में नहीं रहते। उनमें अपने ॥ बाहर की दुनिया के दुख और दर्द की परछायाँ भी दिखाई पड़न लगती हैं। संसार में चलने वाले शोषण-चक्र के विरुद्ध एक आवाज उठती सी दिखती है। अन्तिम कविता "लोकनायक के प्रति" की ये पंक्तियाँ उनकी इधर की मन स्थिति की द्योतक हैं।

१. एक सधु अस्तित्व की सार्यक माँग—अनुमान्त—सदमीकान्त वर्मा—

पृ० १०१।

२. अपनी बात—तीसरा पक्ष—सदमीकान्त वर्मा।

“हम जन हैं, हमारे पास हैं केवल क्षुब्ध शब्द,
अर्धहीन विवशता, क्षीण सौन्दर्य रूप
विभाहीन मस्तक,
मस्तक में निहित अनेकानेक तूफान भाव
तुम्हारे इन धृष्ट हाथों की लाठी हम नहीं बन सके
किन्तु इस बखोपम पीठ पर
रख दो मन्दराचल
हम सहन कर लेंगे सारी यातना पीडा ।
वेदना के अनन्त बन्ध
अगणित विषम प्रहार
क्योंकि हम ओ जन हैं,
भूले-प्यासे स्वेदसिक्त अगणित अनन्त दुःख दैन्य,
कहीं हम ही से उपजेगा विष, अमृत, सुधामित्थु
काल विकरान भी सेवा सारा अवसाद
तो, हम समर्पित हैं अर्पित विवाद !”^१

‘मैं’ का ‘हम’ में बदलना और अपनी पीडा के माध्यम से जग की पीडा की पहचान करने और कराने की मानसिकता आज के लक्ष्मीकान्त की मानसिकता है ।

विपिनकुमार अग्रवाल

अपनी कविता के विषय में वक्तव्य न देने की बात तो अनेक कवियों ने की है, परन्तु कठोरता से इस दृष्टि का निर्वाह विपिनकुमार अग्रवाल ने किया है । उनके दोनों सन्तान ‘धुएँ की लकीरें’ और ‘नया पैर’ भूमिका-विहीन हैं । ऐसा करना उनकी रचना-दृष्टि का ही प्रतिफलन है । ‘धुएँ की लकीरें’ का पहला वाक्य ही इस दृष्टि को प्रस्तुत कर देता है ।

“जिनके लिए—

भूमिका

प्रेरणा से बड़ी है

उनसे हम छोटे हैं ।”

इसलिए विपिन की प्रेरणा की पहचान के लिए कोई वक्तव्य या भूमिका आवश्यक नहीं है । और यह बहुत प्रेरक स्थिति होती है । क्योंकि उस दशा में

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य 'विपिनकुमार' . २३७

पाठक-समीक्षक सीधे कविता से साक्षात्कार करता है। विपिन भी साही की भाँति अधिक लिखने में विश्वास नहीं करते। जब प्रेरणा उन्हें सही बिन्दु पर गतिशील करती है तभी वे लिखते हैं। विन्तु विपिन चित्रकार भी है—अच्छे पाये के चित्रकार। इसलिए लम्बी कविताओं की उनकी शैली नहीं है। उन्होंने प्रायः कुछ रेखायें उभारने की काशिश की है।

विपिन की प्रेरणाएँ महत् या बटुत गहरी ही हो ऐसा नहीं है। प्राय वे छोटी छोटी बातों से ही गहर सक्त ग्रहण करते हैं और उन्हें बड़ी ही सहजता से सम्प्रेषित कर देते हैं। उनकी यह कला बड़ी ही सहज लगती है। विपिन की कविता में वैयक्तिक स्वर अपना विशिष्ट स्थान रखत है। वे रोटी-कपड़ा-मकान के सर्प के तीखे अनुभवों से प्राय बचे रहे हैं, अतः उस स्तर की वैयक्तिक अनुभूति उनकी कविता में प्राप्य नहीं हाती। वे वैचारिक ऊहापोह को भी अपना कविता का विषय नहीं बनात। उनकी प्रेरणायें आत्मानुभूति से संबद्ध हैं। विभिन्न स्थितियों में उनका सृजन-शील मानस जैसे जैसे अनुभव करता है, प्रतिक्रियाशील होता है, वैसी ध्वनियाँ उनकी कविता में सुनाई पड़ती रहती हैं। परिवेश से उनका टकराव पार्थिव धरातल पर नहीं है। उसका धरातल बहुत कुछ आत्माग्रह से जुड़ा है। एक कविता देखी जा सकती है। पूरी कविता इस प्रकार है -

एक शाम को

किताबों, छोटी छोटी मेखों

मूर्तियों, तस्वीरों और कुत्तियों के बीच

मैं चुपचाप बैठा था।

घर्र की छोटी-सा मेरा बोध

पिघल जाने को तैयार था,

हल्के तूफान-सी मेरी चेतना—

पम जाने को तैयार थी,

यदि इनमें केवल मिल पाये

यदि केवल इनमें खो पाये।

पर इतने रँगों के बीच

और इतनी गहराइयों के सामने

हर कोशिश बेकार थी,

हारे धके मन से मैंने

हाथ बढ़ा बत्ती जला दी !

हमरा परछाइयों से भर गया,
 कितने ही आकार
 फसं और दीवाल पर फैल गये ।
 उनमे मैंने पहचाना
 किताबों, छोटी छोटी मेजों,
 मूर्तियों, तस्वीरों, और कुर्सियों को,
 और आँखों ने यह भी देखा
 सबके रंग एक थे
 सबकी गहराइयाँ एक थीं
 और मेरी परछाई भी
 उन्हीं में से एक थी ।”^१

एक विनिष्ट मन स्थिति का उभार और शमन इस कविता में जितनी सहजता से व्यक्त है वैसे हम शायद ही अन्यत्र मिल सके ।

विपिन की एक कविता “ के प्रति” में यान्त्रिक होते चले जाने वाला पति-पत्नी का जीवन जितने निराशास डग से चित्रित है उतनी ही सच्चाई और कच्चा उससे टपकती है । कैसे पति आत्मीयता को कामना से पत्नी को अपनी ओर उन्मुख कराना चाहता है और कैसे पति की ऐसी हर चेष्टा को पूरी मशीनी गृहस्थी में जकड़ी हुई पत्नी नाकाम करती चली जाती है और अन्त में रात आती है । पति सोचता है

“यूँ ही दिन गुजरता है और रात आती है,
 धकन से घूर घुमघुम सेट जाता हूँ,
 “अब तो काम निबटेगा” मन में बात आती है,
 तुम्हारी लाट को सरका कर अपनी से सटाता हूँ,
 सदियों बाद तुम्हारे सेटने की आवाज आती है,
 गिरे न—इसलिए भुन्नी की अपनी ओर पाता हूँ ।”^२

‘सदियों बाद’ में सारी वेदना सिमट जाती है और अन्तिम पंक्ति में स्थिति का वह चरम परिपाक दिखाई पड़ता है, जो पाठक को अवसन्न कर देता है ।

‘अन्धकार की चर्चा नयी कविता में बहुत हुई है, परन्तु अन्धकार की महिमा का बखान विपिन ने ही किया है

१ परछाइयाँ—घुएँ की लकीरें—विपिनकुमार अग्रवाल, पृ० २ ।

२ के प्रति—घुएँ की लकीरे—विपिनकुमार अग्रवाल, पृ० ६ ।

नयी कविता में लोक एवं व्यक्तिचेतना का नया सामंजस्य : 'विपिनकुमार' । २३६

“प्रकाश के बिना
अन्धकार रह सकता है
पर अन्धकार के बिना
क्या किसी ने प्रकाश देखा है ?”^१

विपिन की साधारणता के प्रति एक सहज लगाव की मानसिकता उनकी केन्द्रीय सवेदना प्रतीत होती है। वे लिखते हैं :

“मैं जा रहा हूँ अकेला
मेरे साथ न सवमण हूँ न सीता
■ मेरा गन्तव्य कोई वन है
अगर वन होता तो होता
न पार करने के लिए कोई गंगा है
अगर गंगा होती तो पार करता।”^२

एक मामूली जिन्दगी का आग्रह जो अपने मामूलीपन में ही विशिष्टता की शर्तें पूरी करता है, विपिन की वैयक्तिकता का आग्रह है।



१. जरूरत से ज्यादा—घुएँ की लकीरें, पृ० ११।

२. यात्रा—नगे पैर—विपिनकुमार अग्रवाल, पृ० ६०।

उपसंहार



वैयक्तिकता की रेखाओं की तलाश जिन कवियों के माध्यम से की गई है, उनकी भी पूरी छवि इस ग्रन्थ में उभर कर आ पाना संभव नहीं था, परन्तु ऐसे अनेक कवियों का अध्ययन इसमें नहीं हो सका जो पर्याप्त महत्व के हैं तथा अपनी रचनाओं से जिन्होंने युग-जीवन को प्रतिध्वनि ही नहीं किया वरन् प्रभावित भी किया है। छायावादोत्तर कविता की चर्चा करते समय नवीन और अचल जैसे समर्थ कवियों का अध्ययन नहीं किया जा सका। इसी प्रकार प्रयोगवादी कविता की चर्चा के पूर्व प्रगतिशील कवियों विशेषकर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शिवमंगल सिंह 'सुमन' की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया जा सका। 'नकेन' के नलिन विनोदन, केशरी कुमार तथा नरेश की कविताएँ अछूनी रह गईं। 'नकेन' के प्रपद्य का हिन्दी कविता के इतिहास में एक विशेष स्थान है। प्रयोगवाद को एक मूल्य और साध्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का उन्होंने गहरा प्रयास किया था। नलिन की 'गीत, दर्शन' 'सागर-संघा', 'आपाठ का पहला दिन,' केशरी कुमार की 'सौम', 'दोपहर', 'आपाठस्य प्रथम दिवसे' जैसी रचनाएँ जहाँ एक ओर प्रकृति से जुड़ी हुई हैं वहीं कवि को मानसिक स्थितियों का बेजोड़ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। प्रकृति के माध्यम से अपनी वैयक्तिक स्थिति का उद्घाटन केशरी कुमार की इन पक्तियों में अजीब मार्मिकता के साथ हुआ

“रोज जैसे रोज

नि स्वप्न, आज भी

कुछ फूल मुरभे, बाद मैली

अपन बादल वह चले

ज्यों वृक्ष उन्मूलित,

उठे, कुछ उठ चले

ज्यों काग धौंसे धौल ।’

(भरण सु)

‘अपन बादल वह चले’ जैसी पक्तियाँ अपनी तरलता से गहराई तक स्पर्श करती हैं।

प्रयोगशील कवियों के 'तार सप्तक' में भी प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, की रचनाओं का अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया जा सका। 'दूसरा सप्तक' के भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माधुर, हरिनारायण व्यास को छोड़ना पड़ा। भवानीप्रसाद मिश्र की बातचीत की भाषा में 'गीत फरोश' जैसी कविताएँ अपनी व्यञ्जना में बेजोड़ हैं। शकुन्त माधुर की सस्पशिता भी उनकी अनेक रचनाओं में अत्यन्त मार्मिक स्तर पर व्यक्त हुई है। 'तीसरा सप्तक' के कवियों में प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन और केदारनाथ सिंह का अध्ययन भी नहीं प्रस्तुत किया जा सका।

प्रयाग नारायण त्रिपाठी की 'समाधिस्थ', 'सदय', 'अधूरा गीत', 'यह उद्वेलन', 'चाहता हूँ', विदा के क्षणों में, जैसी रचनाएँ अपने वैयक्तिक स्पर्श से सहलाने वाली रचनाएँ हैं। प्रयाग नारायण त्रिपाठी की ये पंक्तियाँ उनकी वैयक्तिकता को निम्नान्त रूप से प्रस्तुत करती हैं—

"मुझमें कुछ है
जो मेरा विस्कुल अपना है।
जो है मेरे क्षीरोज्ज्वल मन के मन्यन का
कोमल मात्सर्य।

जिसको मैंने बहुत दूढ़ कर
बहुत-बहुत अपने में रह कर
बहुत-बहुत सह कर पाया है—
जिसको अहरह बुलाराया है।
गद्गद चिन्तन, आराधन, एकान्त समर्पण की घड़ियों में
बही-बही है, मेरा आश्रय, मेरा आरमज, पूर्वाभूत मैं।
जिसको स्वर के जग में, शत चित्रों में
एत एत सवेतों में तुमको देना चाह रहा हूँ।"

कीर्ति चौधरी की 'एकलव्य', 'सीमा रेखा', 'केवल एक बान', और 'दादिरव-भार' जैसी रचनाएँ उनकी वैयक्तिकता की स्पष्ट पहचान कराती हैं।

मदन वात्स्यायन आज के यात्रिक युग की पूरी मशीनी दुनिया में रहते हुए भी अपनी सवेदना का नया धरातल बनाते रहे हैं। केदारनाथ सिंह तो कहते ही हैं - "कविता, संगीत और अनेलापन, ये तीन चीजें मुझे बेहद प्रिय

हैं।^१ उनकी कविताओं में एक सोघापन, एक ग्रामीण गन्ध है जो उनकी वैयक्तिक पूंजी बनकर अनेक रचनाओं को समृद्धि देती है। 'नये वर्ष के प्रति', 'वसन्त गीत', 'टूटने दो', 'शामे बेच दी है', 'नयी ईंट', 'विदा गीत', तथा 'दीपदान' जैसी रचनाएँ उनकी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति हैं। कुछ पक्तियों का नमूना देखा जा सकता है।

"रुको आँचल में तुम्हारे

यह समीरण बाँध दूँ, यह टूटता मन बाँध दूँ।

एक जो इन उँलियों में

कहीं उलझा रह गया है

फूल सा यह काँपता क्षण बाँध दूँ।"^२

सप्तको के बाहर के जिन नये कवियों का अध्ययन नहीं प्रस्तुत हो सका उनमें डा० जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, श्रीराम वर्मा, मलयज, अजितकुमार, परमानन्द श्रीवास्तव आदि अपने रचनाकर्म में एक विशिष्ट वैयक्तिक स्पर्श से युक्त हैं। डा० जगदीश गुप्त का नाम तो नयी कविता के संरक्षकों एवं प्रतिष्ठापकों में माना जाता है क्योंकि 'नयी कविता' के वे सम्पादक भी रहे हैं। उनके शब्द चयन, एक कलात्मक ढलाव में ढली कविताएँ अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। उनके काव्य संग्रह 'नाव के पाँव', 'शब्द-दश' एवं 'युग्म' की अनेक कविताएँ अपने वैयक्तिक सस्पर्श से पाठकों को अभिभूत करती हैं। डा० जगदीश गुप्त ने कविता में अर्थ की स्रष्टा का पहचान करने और कराने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। डा० जगदीश गुप्त की अनेक रचनाएँ अपने कोमल वैयक्तिक सस्पर्श से सहलाती हैं। निम्न पक्तियों की वैयक्तिकता को रेखांकित किया जा सकता है—

"जो कुछ प्राणों में है,

प्यार नहीं,

पीर नहीं,

प्यास नहीं—

जो कुछ आँखों में है,

स्वप्न नहीं,

१ तीसरा सप्तक, पृ० १८०।

२. विदा गीत—तीसरा सप्तक, पृ० २१४।

अथु नहीं,
 हास नहीं—
 जो कुछ अंगों में है
 रूप नहीं,
 रस नहीं,
 मांस नहीं,
 जो कुछ शब्दों में है,
 अर्थ नहीं,
 नाद नहीं,
 स्वास नहीं—
 उस पर आस्था मेरी
 उस पर भ्रष्टा मेरी ।
 उस पर पूजा मेरी ।”

श्रीकान्त वर्मा का व्यक्तित्व आज की विसंगति और विडम्बना को अपने में एक विचित्र बेचस भाव से महसूस करता है । उनकी रचनाओं में आज के सिद्धान्त-हीन परिवेश की गूँज साफ-साफ सुनाई देती है :

“जिसे करनी हो करे
 जिसे रहना हो रहे
 प्रतीक्षा की ‘क्यू’ में
 और प्राप्ति की गोद में,
 भुजाओं में ।

जिसे लूट का मात
 और ठगो का प्रेम
 से जाना हो से जाये
 भावों में ।

जीवन बितायेंगे भत्ताह की तरह ।”
 बन्दरगाह में ।”^१

इस सिद्धान्तहीन परिवेश का प्रभाव कवि के जीवन पर और रचना-ब्रमं पर भी गहराई से पड़ता चला जाता है ।

परमानन्द श्रीवास्तव की 'उजली हँसी के छोर पर' की अनेक कविताओं में उनकी 'निजी अनुभूति' छलकती है। संकलन के प्रारम्भ में बात्स्यायन जी की एक चिट्ठी के सन्दर्भ में परमानन्द जी ने स्वीकार भी किया है कि अभी तो उनका सारा बल सही और सच्ची अनुभूति पर है। कवि जहाँ 'याद' जैसी रचनाओं में एक आत्मीय स्पर्श से सहलाता है

“याद आती है
कहीं
एक उजली सी हँसी के
छोर पर
आभित
तुम्हारी दृष्टि
याद आता है
कहीं से
एक ऊँचे रंग का आकाश
दृष्टियों में तुम्हारे
तैरता
निराश्रित—।”^१

वही “अपने ही घर में पराया” होने की अनुभूति उसे भी कचोटती है। कई रचनाएँ “उन सब के नाम जो मेरे अपने हैं”, “भटकने दो”, “प्रतीक्षा का गीत”, “स्नेहापंख”, कवि की नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों से लदी हैं। अजीत कुमार की वैयक्तिकता “अकेले कंठ की पुकार” बन कर फूटती है।^२ परन्तु वे अपने अकेलेपन को औरो से जोड़ने को बेचैन हैं। वे कहते हैं :

“गीत जो मैंने रचे हैं
धँ मुनाने को बचे हैं
क्योंकि
नूतन जिन्दगी लाने,
नई दुनिया बसाने के लिए
मेरा अकेला कंठ स्वर काफी नहीं है।”^२

१. याद—उजली हँसी के छोर पर—परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २।

२. अकेले कंठ की पुकार—अजीत कुमार—पृ० ६।

आज के युग की विसंगति का दर्शन उनकी “एक विज्ञापन” जैसी रचनाओं में किया जा सकता है।

मलयज के विषय में शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है कि “वह अपने एकान्त व्यक्ति की निष्ठा को, बड़े तटस्थ भाव से, खुले आंगन, बल्कि और खुले चौराहे पर ला खड़ा करते हैं।” अपने अकेलेपन को हँसते हुए देखने और दिखाने की मानसिकता मलयज की विशिष्टता है। उनके अन्दर एक बगावत धुंधुवा रही है जो विद्रूप ध्यय के रूप में फूटती रहती है। “अह-पीडित एकान्त का वक्तव्य” जैसी रचनाएँ उसका प्रमाण हैं। वे कहते हैं :

“एक अन्तराल हूँ

अंश और पीड़ा के विस्तार के मध्य

दुःकारा गया स्वयं से वह अंश हूँ भविष्यत् का

जिसके अधिक तुम, मैं धम्य।”^१

—मलयज, पृ० ६।

नयी कविता के बाद जो समकालीन कविता हिन्दी में लिखी जा रही है उसके सशक्त हस्ताक्षरों का विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सका है। स्वर्गीय “धूमिल” स्वर्गीय राजकमल चौधरी, ओमप्रकाश निर्मल, वेणु गोपाल, सीमित्र मोहन, सीताधर जगूड़ी, कमलेश, दूधनाथ सिंह आदि इस प्रवाह के सशक्त कवि हैं। इनकी वैयक्तिकता का अध्ययन यहाँ नहीं किया जा सका है।

कुल मिलाकर छायावाद से नयी कविता तक की हिन्दी कविता की वैयक्तिकता का एक सीमित अध्ययन इस प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

●

—

—

वाङ्मय सूची



१—रामचरितमानस	—गोस्वामी तुलसीदास
२—विनयपत्रिका	” ”
३—सूर सागर सार	
४—कबीर ग्रन्थावली	
५—हिन्दी साहित्य की भूमिका	—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६—कबीर	” ”
७—रीतिकाव्य संग्रह	—डा० जगदीश गुप्त
८—बिहारी	—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
९—द्विवेदी	—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१०—आलोचना के भान	—डा० शिवदानसिंह चौहान
११—जयशंकर प्रसाद	—डा० मन्ददुलारे बाजपेयी
१२—कामायनी	—जयशंकर प्रसाद
१३—सरना	” ”
१४—सहर	” ”
१५—प्रसाद जी की कला	—गुलाबराय
१६—कामायनी-मूल्यांकन और मूल्यांकन	—डा० इन्द्रनाथ मदान
१७—चित्राधार	—प्रसाद
१८—प्रेम पथिक	” ”
१९—कानन कुसुम	” ”
२०—परिमल	—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
२१—अनामिका	—” ”
२२—अपरा	—” ”
२३—निराला : आत्महन्ता आस्था	—दूधनाथ सिंह
२४—निराला की साहित्य साधना	—डा० रामबिलास शर्मा
२५—आधुनिक कवि	—श्री सुमित्रानंदन पंत
२६—पल्लव	” ”

२७—गुजन	—श्री सुमितानंदन पंत
२८—आधुनिक कवि	—महादेवी वर्मा
२९—महादेवी	—शचीरानी गुट्टू
३०—छायावाद का पुनर्मूल्यांकन	—सुमितानंदन पंत
३१—एकान्त संगीत	—वन्चन
३२—आकुल अन्तर	" "
३३—मिलन यामिनी	" "
३४—मधु कलश	" "
३५—क्या भूलूँ क्या याद कहूँ	—वञ्चन
३६—नीड़ का निर्माण फिर	—वञ्चन
३७—उर्वशी	—रामधारी सिंह दिनकर
३८—हुंकार	" "
३९—रेणुका	" "
४०—बुरुक्षेत्र	" "
४१—दिनकर	—डा० सावित्री सिनहा
४२—हम विपयायी जनम के	—बासकृष्ण शर्मा 'नवीन'
४३—अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या	—डा० रामस्वरूप बलुवेंदी
४४—हिन्दी नवलेखन	" "
४५—नयी कविताएँ : एक साक्ष्य	" "
४६—भाषा और संवेदना	" "
४७—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	—डा० रघुवंश
४८—समसामयिकता और हिन्दी कविता	" "
४९—आज के लोकप्रिय कवि अज्ञेय	—डा० विद्यानिवास मिश्र
५०—आत्मनेपद	—अज्ञेय
५१—'इत्यलम्'	" "
५२—चिन्ता	" "
५३—बावरा अहेरी	" "
५४—हरी घास पर क्षण भर	" "
५५—इन्द्रधनु रोदे हुए	" "
५६—आग्न के पार द्वार	" "

२४८ : हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिचय

५७—अरी ओ कण्ठा प्रभामय	—अज्ञेय
५८—पहले मैं सन्नाटा चुनता हूँ	" "
५९—सागर मुद्रा	" "
६०—कितनी नावो मे कितनी बार	" "
६१—तार सप्तक—सम्पादक	" "
६२—दूसरा सप्तक "	" "
६३—नयी कविता (द्वितीय संस्करण)—संपादक डा० जगदीश गुप्त अंक १	
६४—"	" अंक २
६५—"	" अंक ३
६६—"	" अंक ४
६७—"	" अंक ५ तथा ६
६८—तीसरा सप्तक	—संपादक 'अज्ञेय'
६९—पूर्वा	—अज्ञेय
७०—अद्यतन	" "
७१—आलवाल	" "
७२—क्योंकि मैं उसे जानता हूँ	" "
७३—नयी कविता और अस्तित्ववाद—डा० रामविलास शर्मा	
७४—चाँद का मुँह टेढ़ा है	—मुक्तिबोध
७५—कविता के नये प्रतिमान	—डा० नामवर सिंह
७६—जो अप्रस्तुत मन	—भारतभूषण अग्रवाल
७७—घूप के घन	—गिरिजा कुमार माथुर
७८—छाया मत छूना मन	" "
७९—आत्माहत्या के विरुद्ध	—रघुवीर सहाम
८०—सीढियों पर घूप	" "
८१—हँसो, हँसो जल्दी हँसो	" "
८२—आधुनिकता और हिन्दी साहित्य	—डा० इन्द्रनाथ मदान
८३—ठण्डा लोहा	—डा० धर्मवीर भारती
८४—सात गीत वर्ष	" "
८५—कनुप्रिया	" "
८६—अन्धा युग	" "
८७—बोलने दो चीड़ को	—नरेश मेहता

८८—मेरा समर्पित एकान्त	—नरेश मेहता
८९—उत्सवा	" "
९०—शमशेर—सपादक	—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और भलयज
९१—चुका भी हूँ मैं नहीं	—शमशेर बहादुर सिंह
९२—कुछ कविताएँ	" "
९३—कुछ और कविताएँ	" "
९४—कविताएँ—१	—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
९५—कविताएँ—२	" "
९६—घुएँ की लकीरें	—लक्ष्मीकांत वर्मा, विपिनकुमार अग्रवाल
९७—अतुकात	" "
९८—तीसरा पक्ष	" "
९९—नगे पैर	—विपिन कुमार अग्रवाल
१००—नकेन के प्रपञ्च	
१०१—मछलीघर	—विजयदेव नारायण साही
१०२—लम्बी कविताओं का रचना-विधान	—नरेन्द्र मोहन
१०३—परिवेश : हम तुम	—कुँवर नारायण
१०४—आत्मजयी	" "
१०५—चाँदनी चूनर	" "
१०६—प्रगतिशील कविता के मील पत्थर	—डा० रणजीत
१०७—मायादर्पण	—श्रीकांत वर्मा
१०८—घरती	—तिलोचन
१०९—ग्रीनविच	—श्रीराम वर्मा
११०—समकालीन कविता की भूमिका	—डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
१११—घास का घराना	—मणि मधुकर
११२—प्रारम्भ	—जगदीश चतुर्वेदी
११३—नुकसान अती तथा अन्य कविताएँ	—सौमित्र मोहन
११४—उजली तैसी के छोर पर	—परमानन्द श्रीवास्तव
११५—मुक्ति प्रसंग	—राजबमन श्रीवास्तव

२५० : नयी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य

११६—माध्यम में	—शम्भूनाथ सिंह
११७—दिवालोके	—शम्भूनाथ सिंह
११८—जड़म पर घूँस	—मलयज
११९—अकेले कठ की धुकार	—अजित कुमार
१२०—सप्तक्रान्तियाँ	—डा० राममनोहर लोहिया
१२१—सच, कर्म और प्रतिकार	" "
१२२—द्रौपदी और सावित्री	" "
१२३—राम, कृष्ण और शिव	" "
१२४—वनपाखी	—नरेश मेहता
१२५—ससद से सड़क	—धूमिल
१२६—आँसू	—प्रसाद
१२७—Marx, Gandhi and Socialism	—Dr. Ram Manohar Lohia
१२८—Interval During Politics	" "
१२९—Wheel of History	" "
१३०—Fragments of a World Mind	" "

